UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180008

UNIVERSAL
LIBRARY

शिक्षा।

हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर ग्रन्थ-माला का ३२ वाँ ग्रन्थ।

शिक्षा।

कविसम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुरके
शिक्षाविषयक पाँच निबन्धोंका अनुवाद।

अनुवाद कर्त्ता
नाथूराम प्रेमी।

प्रकाशक,
हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, गिरगांव, बम्बई।

श्रावण १९७९।

हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर ग्रन्थ-माला का ३२ वाँ ग्रन्थ।

शिक्षा।

कविसम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुरके
शिक्षाविषयक पाँच निबन्धोंका अनुवाद।

अनुवाद कर्त्ता
नाथूराम प्रेमी।

प्रकाशक,
हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, गिरगांव, बम्बई।

श्रावण १९७९।

द्वितीयावृत्ति।] जुलाई १९२२। [मूल्य आठ आने।

प्रकाशक

नाथूराम प्रेमी,

हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई ।

मुद्रक—

श्रीरामकिशोर गुप्त,

साहित्य प्रेस, चिरगाँव, (झाँसी)

निवेदन ।

इस समय देशके प्रधान प्रधान विचारशीलोंने भारतकी वर्तमान शिक्षाप्रणाली पर असन्तोष प्रकट करना प्रारंभ किया है। उनका कथन है कि यह हमारे देशके लिये सर्वथा अस्वाभाविक, अयोग्य, असुखकर और अकल्याणकारिणी है। जिस शिक्षाको हम अपने उद्धारका एक मात्र उपाय समझे हुए थे और जिसका प्रश्न हमारे लिए जीवन-मरणके प्रश्नसे कम महत्व नहीं रखता है, उसीके सम्बन्धमें इस प्रकारके असन्तोषकी चर्चा उपेक्षाके योग्य नहीं हो सकती। हमें चाहिए कि उसे सचेष्ट होकर सुनें, विचार करें और यदि उसमें सचमुच ही कुछ तथ्य हो, तो इस प्रणालीके संशोधन या परिवर्तन करनेके लिए कटिबद्ध हो जायँ।

पूर्वोक्त विचारशीलोंमें डाक्टर सर रवीन्द्रनाथ टागोर भी एक हैं, जिनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा प्रत्येक विषयको एक अपूर्व ही प्रणालीसे जनताके समक्ष उपस्थित करती है। आपने भी वर्तमान शिक्षापद्धतिकी आलोचना की है और यह प्रकट करनेका प्रयत्न किया है कि वास्तविक शिक्षा कैसी होनी चाहिए। इस पुस्तकमें आप उन्हींके विचारोंको पढ़ेंगे और देखेंगे कि उन्होंने वर्तमान शिक्षापद्धतिमें फेरफार करनेकी कितनी आवश्यकता बतलाई है।

हिन्दीमें इस विषय पर प्रकाश डालनेवाली पुस्तकोंका सर्वथा अभाव है। यह देखकर मैंने रवीन्द्रबाबूके इन निबन्धोंको हिन्दीमें प्रकाशित करनेका प्रयत्न किया है। मेरी समझमें ये निबन्ध अथवा इन निबन्धोंमें प्रकट किये हुए विचार प्रत्येक देशहितैषी और

विचारशील पुरुषके कानोंतक पहुँच जाने चाहिए और वर्तमान शिक्षापद्धतिके विरुद्धमें एक बड़ा भारी आन्दोलन शीघ्र ही शुरू किया जाना चाहिए।

रवीन्द्रबाबूके लेखोंका अनुवाद करना कितना कठिन कार्य है, इस बातको वही समझ सकता है जिसने इस कार्यको किया है। उनकी रचनामें भाव इतने गहरे, कथनशैली ऐसी काव्यमयी, और भाषा ऐसी जटिल होती है कि उसे दूसरी भाषामें ज्योंकी त्यों उतार देना कमसे कम मुझ जैसे साधारण पुरुषके लिए तो एक अतिशय दुरूह कार्य है। फिर भी मैंने मूलके भावोंको यथाशक्य सरलतासे समझानेका प्रयत्न किया है और इस बातका ध्यान रक्खा है कि कहीं किसी तरहकी भावच्युति न हो जाय।

यदि इन निबन्धोंको पढ़कर एक भी पाठकने शिक्षातत्त्वको या शिक्षाके रहस्यको अच्छी तरह समझ लिया तो मैं अपने परिश्रमको सफल समझूँगा।

चन्दावाड़ी, बम्बई।
ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी
सं० १९७५ वि०।

नाथूराम प्रेमी।

विषय-सूची।

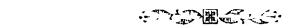

निबन्ध	मूल लेखके लिखे जानेका समय		पृष्ठ संख्या।
१ शिक्षा-समस्या	(वि० सं० १९६३)	...	... १
२ आवरण	(१९६३)	...	... २९
३ शिक्षाका हेर फेर	(१९४९)	...	... ५३
४ शिक्षा-संस्कार	(१९६३)	...	... ७२
५ छात्रोंसे संभाषण	(१९६२)	...	... ८३

शिक्षा ।

शिक्षा-समस्या ।

हम स्कूलोंको एक प्रकारकी शिक्षा देनेकी मशीनें या कलें समझते हैं । मास्टर लोग इस कारखानेके एक तरहके पुरजे हैं। साढ़े दस बजे घण्टा बजाकर कारखाने खुलते हैं, कलोंका चलना आरम्भ हो जाता है और मास्टरोंके मुँह भी चलने लगते हैं। चार बजे कारखाने बन्द होते हैं, मास्टररूपी पुरजे भी अपने मुँह बन्द कर लेते हैं । तब विद्यार्थी इन पुरजों की काटी-छाँटी हुई दो चार पन्नोंकी विद्या लेकर अपने अपने घर लौट आते हैं । इसके बाद परीक्षाके समय इस विद्याकी जाँच होती है और उस पर मार्क लगा दिये जाते हैं।

कलों या मशीनोंमें एक बड़ी भारी खूबी यह रहती है कि जिस मापकी और जिस ढँगकी चीजकी फरमायश की जाती है ठीक उसी माप और ढँगकी चीज तैयार हो जाती है । एक कलसे तैयार हुई सामग्रीमें और दूसरी कलसे तैयार हुई सामग्रीमें कोई बड़ा फर्क नहीं रहता और इससे मार्क लगानेमें बड़ा सुभीता होता है ।

किन्तु एक मनुष्यके साथ दूसरे मनुष्यका मिलान नहीं हो सकता —दोनोंमें बड़ा अन्तर रहता है; यहाँ तक कि एक ही मनुष्यके एक दिनके साथ उसीके दूसरे दिनकी समानता नहीं देखी जाती।

इसके सिवा मनुष्य जो कुछ मनुष्यके पाससे पा सकता है वह कलके पाससे नहीं पा सकता। कल किसी वस्तुको सामने तो उपस्थित कर देती है; परन्तु दान नहीं कर सकती। वह तेल तो दे सकती है; परन्तु चिराग जला देना उसकी शक्तिसे बाहर है।

यूरोपकी दशा हमारे देशसे भिन्न है। वहाँ मनुष्य समाजके भीतर रहकर मनुष्य बनता है, स्कूल उसे थोड़ीसी सहायता–भर देते हैं। वहाँ के लोग जो विद्या प्राप्त करते हैं, वह वहाँके मनुष्यसमाजसे जुदा नहीं होती–वहीं उसकी चर्चा होती है और वहीं उसका विकाश होता है। समाजके बीच नाना आकारों और नाना भावोंसे उसका संचार होता रहता है—लिखने-पढ़नेमें, बात-चीतमें, काम-काजमें वह निरन्तर प्रत्यक्ष हुआ करती है। वहाँ जनसमाजने जो कुछ समय समय पर, नाना घटनाओं और नाना लोगों के द्वारा पाया है, संचय किया है और अपना भोग्य बनाया है, उसीको विद्यालयोंके भीतर बिठाकर बालकों को परोस देनेका केवल एक उपाय कर दिया है—इससे अधिक और कुछ नहीं।

इसीलिए वहाँके विद्यालय समाजके साथ मिले हुए हैं—वे समाजकी मिट्टीमेंसे ही रस खींचते हैं और समाजको ही फल देते हैं।

किन्तु, जहाँ विद्यालय अपने चारों ओरके समाजके साथ इसतरह एक होकर नहीं मिल सकते–समाजके ऊपर बाहरसे चिपकाये हुए होते हैं वहाँ वे शुष्क और निर्जीव बने रहते हैं। हमारे यहाँके विद्यालय ठीक इसी प्रकारके हैं। उनसे हम जो कुछ पाते हैं, वह कष्टसे पाते हैं और वह पाई हुई विद्या ऐसी होती है कि प्रयोग करनेके समय कुछ काम नहीं दे सकती। दससे लेकर चार बजे तक हम जो कुछ

कण्ठस्थ करते हैं, जीवनके साथ, चारों ओरके मनुष्यसमाजके साथ, और घरके साथ उसका कोई मेल नहीं दीख पड़ता। घरोंमें मां-बाप, भाई-बन्धु जो कुछ बातचीत करते हैं और जिन विषयोंकी आलोचना करते हैं हमारे विद्यालयों की शिक्षाके साथ उनका कोई मेल नहीं, बल्कि अकसर विरोध ही रहता है। ऐसी अवस्थामें हमारे विद्यालय एक प्रकारके एंजिन हैं—वे वस्तुयें तो जुटा सकते हैं, पर उनमें प्राण नहीं डाल सकते। हमें उनसे प्राणहीन विद्या मिलती है।

इसीलिए कहतेहैं कि यूरोपके विद्यालयोंकी ठीक ज्योंकी त्यों ऊपरा-ऊपरी नकल करलेनेसे ही ऐसा न समझ लेना चाहिए कि हमने वैसे ही विद्यालय पा लिये जैसे कि यूरोपमें हैं। इस नकलमें वैसीही बेंचें, वैसीही कुर्सियाँ, वैसी ही टेबिलें और वैसी ही कार्यप्रणालियाँ मिल सकती है—इनमें कोई फर्क नहीं रह सकता; परन्तु हमारे लिए ये सब ऊपरी पदार्थ एक तरहके बोझे हैं।

पूर्वकालमें जब हम गुरुओंसे शिक्षा पाते थे शिक्षकोंसे नहीं, मनुष्योंसे ज्ञान प्राप्त करते थे कलोंसे नहीं, तब न तो हमारी शिक्षाके विषय इतने बहुत और विस्तृत थे और न उस समय हमारे समाजमें जो भाव और मत प्रचलित थे उनके साथ हमारी पोथी-शिक्षाका कोई विरोध ही था। परन्तु यदि ठीक वैसा हो समय हम आज फिर लाना चाहें—इसके लिए प्रयत्न करें, तो यह भी एक प्रकारकी नकल ही होगी, उसका बाहरी आयोजन बोझा हो जायगा—किसी काममें नहीं लगेगा।

अतएव यदि हम अपनी वर्तमान आवश्यकताओंको अच्छी तरह समझते हों तो हमें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे विद्यालय हमारे घरका काम दे सकें, पाठ्य विषयोंकी विचित्रताके साथ अध्यापनकी सजीवता मिलसके और पोथियोंकी शिक्षा देना और हृदयों तथा मनोंको गढ़ना ये दोनों ही भार विद्यालय ग्रहण करलें। हम को

देखना होगा कि हमारे देशमें विद्यालयोंके साथ विद्यालयोंके चारों ओरका जो विच्छेद या विरोध है उससे छात्रोंका मन विक्षिप्त न हो जाय और इस प्रकारकी विद्या-शिक्षा केवल दिनमें कुछही घण्टोंके लिए हमसे बिलकुल स्वतन्त्र होकर, वास्तविकतासे रहित एक अत्यन्त कठिनाईसे हजम होने वाली चीज न बन जाय।

विलायतमें विद्यालयोंके साथ घर या 'बोर्डिंग स्कूल' रहते हैं। हमारे यहाँ भी उनकी नकल होने लगी है। परन्तु इस प्रकार के बोर्डिंग स्कूलोंको एक तरहकी बारकें, पागलखाने, अस्पताल या जेलखाने ही समझना चाहिए।

अतएव विलायतके दृष्टान्तोंसे हमारा काम न चलेगा—उन्हें छोड़ ही देना पड़ेगा। कारण विलायतका इतिहास और विलायत का समाज हमारा नहीं है—हममें और उसमें बहुत प्रभेद है। हमारे देशके लोगोंके मनको कौनसा आदर्श बहुत समयसे मुग्ध कर रहा है और हमारे देशके हृदयमें रस-संचार कैसे होगा, यह हमें अच्छी तरह समझ लेना होगा।

परन्तु यह हम समझ नहीं सकते। क्योंकि हमने अँगरेजी स्कूलों में पढ़ा है। हम जिस ओर देखते हैं उसी ओर अँगरेजोंका दृष्टान्त हमारे नेत्रोंके सामने प्रत्यक्ष हो जाता है और उसकी ओटमें, हमारे देशका इतिहास—हमारी स्वाजातिका हृदय—छुप जाता है—स्पष्ट नहीं रहता। हम नेशनल पताकाको ऊँची उठाकर स्वाधीन चेष्टासे काम करेंगे, इस खयालसे जब हम कमर कसके तैयार होते हैं, तब भी विलायतकी बेड़ी कमरबन्द बनकर हमें बाँध लेती है और हमें नजीर या दृष्टान्तसे बाहर हिलने-डुलने तक नहीं देती।

हमारे लिए बड़ी भारी कठिनाई यह है कि हम अँगरेजी विद्या और विद्यालयोंके साथ साथ अँगरेजी समाजको अर्थात् वहाँकी विद्या और विद्यालयोंको यथास्थान नहीं देखने पाते। हम इसे सजीव

लोकालयके साथ मिश्रित करके नहीं जानते और इसीसे हम यह भी नहीं जानते कि विलायती विद्यालयोंके प्रतिरूप जो हमारे देशके विद्यालय हैं उन्हें अपने जीवनके साथ किस तरह मिला लेना चाहिए; और यह जानना ही सबसे अधिक प्रयोजनीय है। विलायतके किस कालेजमें कौनसी पुस्तक पढ़ाई जाती है और किस कालेजके क्या नियम हैं, केवल इन्हीं बातोंको लेकर तर्क-वितर्क करते हुए कालक्षेप करना ठीक नहीं; इससे समय का दुरुपयोग होता है।

इस विषयमें हमारी हड्डियोंके भीतर एक अन्धविश्वास घुस गया है। जिस तरह तिब्बतनिवासी समझते हैं कि किसी किरायेके मनुष्य के द्वारा एक मन्त्रलिखित चक्र चलवा देनेसे ही पुण्यलाभ हो जाता है, उसी तरह हम भी समझते हैं कि किसी तरह एक सभा स्थापित करके यदि वह एक कमेटीके द्वारा चलाई जा सके, तो बस हमें फलकी प्राप्ति हो जायगी। मानों सभा स्थापन कर लेना ही एक बड़ा भारी लाभ है। कई वर्ष बीत गये, हमने एक विज्ञानसभा स्थापित कर रक्खी है। तबसे हम बराबर प्रतिवर्ष विलाप करते आ रहे हैं कि देशवासी विज्ञानशिक्षासे उदासीन हैं। किन्तु विज्ञानसभा स्थापित करना एक बात है और देशवासियोंके चित्तको विज्ञानशिक्षाकी ओर आकर्षित करना दूसरी बात है। सभास्थलमें कूद-पड़ते ही लोग विज्ञानी हो जायँगे, ऐसा समझना इस घोर कलियुगकी कल-निष्ठाका परिचय देना है।

असली बात यह है कि हमें मनुष्यके मनको पाना चाहिए। जब हम उसे पालेंगे तब ही हम जो कुछ आयोजन या उद्योग करेंगे वह पूर्ण फलप्रद होगा। हमें इस बातका अच्छी तरहसे विचार कर लेना चाहिए कि जिस समय भारतवर्ष अपनी निजी शिक्षा देता था उस समय उसने मनुष्यका मन किस तरह पाया था। विदेशी यूनिवर्सिटियोंके कैलेण्डर खोलकर, उनका रस बाहर करनेके लिए उन पर

पैन्सिलके दाग लगानेसे हम आपको मना नहीं करना चाहते; परन्तु साथ ही यह अवश्य कहे देते हैं कि यह विचार भी उपेक्षा या उदासीनताका विषय नहीं है। विद्यालयोंमें क्या सिखाना चाहिए, यह बात भी विचारणीय अवश्य है; परन्तु जिन्हें सिखाना है उनके मन किस तरह पाये जा सकते हैं, यह उससे भी अधिक विचारणीय है।

भारतवर्षके गुरु-गृह एक समय तपोवनोंमें थे। अवश्य ही इस समय उन तपोवनोंका स्पष्ट चित्र हमारे मनमें नहीं उठता—हम उनके सजीव स्वरूपको साफ साफ नहीं देख सकते—वह अनेक अलौकिकताओंके कुहासेसे छुप गया है, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि किसी समय उनका अस्तित्व अवश्य था।

जिस समय उक्त आश्रम थे उस समय उनका वास्तविक स्वरूप क्या था, इस विषयको लेकर हम तर्क नहीं करना चाहते और कर भी नहीं सकते। परन्तु यह निश्चय है कि उन आश्रमोंमें जो लोग निवास करते थे, वे गृही थे और उनके शिष्य सन्तानके समान उनकी सेवा करके उनसे विद्या प्राप्त करते थे।

हमारे देशकी कहीं कहींकी—विशेष कर बङ्गालकी—पुरानी संस्कृत पाठशालाओंमें आज भी उक्त भाव थोड़े बहुत अंशोंमें दिखलाई देता है।

इन पाठशालाओं पर दृष्टि डालनेसे मालूम होता है कि उनमें केवल पोथियाँ पढ़ना ही सबसे अधिक महत्त्वकी बात नहीं है—वहाँ चारों ओर अध्ययन अध्यापन की हवा बहती है। स्वयं गुरु भी वहाँ पढ़ना-लिखना लिये बैठे रहते हैं। केवल इतना ही नहीं, वहाँ जीवनयात्रा बिलकुल ही सीधी-सादी रहती है; धनदौलत तथा विलासिताकी खेंचतान नहीं रहती और इस लिए वहाँ शिक्षा एक साथ स्वभावके सङ्ग मिल जाने का समय और सुभीता पा लेती है। पर इस कहनेसे हमारा यह मतलब नहीं है कि यूरोपके बड़े बड़े

विद्यालयोंमें भी यह, शिक्षाका स्वभावके साथ मिल जाने का भाव, नहीं है।

प्राचीन भारतवर्षका यह सिद्धान्त था कि अध्ययन करनेका जितना समय है उतने समयतक विद्यार्थीको ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए और गुरुगृहमें निवास करना चाहिए।

जो संसारके बीच रहते हैं वे ठीक स्वभावके मार्ग पर नहीं चल सकते। तरह तरहके लोगोंके समूहमें नाना दिशाओंसे नाना लहरें आकर जब तब बिना जरूरत ही उन्हें चञ्चल किया करती हैं। जिस समय हृदयकी वृत्तियाँ भ्रूण अवस्थामें रहता हैं उस समय वे कृत्रिम आघातोंसे बिना समयके ही जन्म ले लेती हैं। इससे शक्तिका बड़ा भारी अपव्यय होता है और मन दुर्बल तथा लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है। इस लिए जीवनके आरम्भकालमें स्वभावको विकारोंके सारे कृत्रिम कारणोंसे बचाकर रखना बहुत ही आवश्यक है। प्रवृत्तियाँ असमयमें ही न जाग उठें और विलासिताकी उग्र उत्तेजनासे मनुष्यत्वकी नवोद्गम अवस्था झुलस न जावे—वह स्निग्ध और सजीव बनी रहे, यही ब्रह्मचर्यपालनका उद्देश्य है। वास्तवमें देखा जाय तो बालकोंका इस स्वाभाविक नियमके भीतर रहना उनके लिए सुखकर भी है। क्योंकि इससे उनके मनुष्यत्वका पूर्ण विकाश होता है, इससे ही वे जैसी चाहिए वैसी स्वाधीनताका आनन्द भोग सकते हैं और इससे उनका वह निर्मल ओर उज्ज्वल मन—जो कि उसी समय अंकुरित होता है—उनके सारे शरीरमें प्रकाशका विस्तार करता है।

आजकल ब्रह्मचर्यपालन कराने के बदले नीतिपाठ पढ़ानेकी पद्धति निकाली है। देशके सुशिक्षित नेता और बालकोंके मातापिता समझते हैं कि छात्रोंको नीतिका उपदेश देना बहुत ही जरूरी है। परन्तु हमारी समझमें यह भी एक तरहका कल या मशीन जैसा काम है। प्रतिदिन नियमपूर्वक थोड़ासा 'सालसा' पीलेनेके समान

ही यह नीतिका उपदेश है। बच्चोंको अच्छा बनानेका यह एक निर्दिष्ट उपाय समझा जाता है।

नीतिका उपदेश यह एक विरोधी विषय है। यह किसी भी तरह मनोहर नहीं हो सकता। क्योंकि जिसको उपदेश दिया जाता है वह मानों आसामियोंके कठघरेमें खड़ा किया जाता है और ऐसी अवस्थामें या तो वह उपदेश उसका मस्तक लाँघकर चला जाता है या उस पर चोट करता है। इससे केवल हमारा यह उपदेश देनेका प्रयत्नही निष्फल नहीं होता है, बल्कि कभी कभी इस से उलटा अनिष्ट भी हो जाता है। अच्छी बातको विरस और विफल कर डालना, इसके समान हानिकर कार्य मनुष्य समाज के लिए और दूसरा नहीं है। नीत्युपदेश जैसी अच्छी बात, बच्चोंको बिना जरूरत और बिना समय देनेका प्रयत्न करके विरस और विफल बना डाली जाती है। परन्तु लोग इस विषयको समझते नहीं; अच्छे अच्छे सुशिक्षितोंका झुकाव भी इस ओर अधिकतासे देखकर मनमें बड़ा डर लगता है।

जहाँ इस कृत्रिम जीवनयात्रामें हजारों तरहके असत्य और विकार हर घड़ी हमारी रुचिको नष्ट किया करते हैं, वहाँ यह आशा कैसे की जा सकती है कि स्कूलके दससे लेकर चार बजे तकके थोड़े से समयमें एक दो पोथियोंके वचन हमारा संशोधन कर डालेंगे—हमारे चरित्रको नीतिपूर्ण बना देंगे। इससे और तो कुछ नहीं होता—केवल दिखाऊपनकी सृष्टि होती है और नैतिक ढोंग—जो कि सब तरहके ढोगोंसे अधम है—सुबुद्धिकी स्वाभाविकता और सुकुमारता को नष्ट कर देता है।

ब्रह्मचर्यपालनके द्वारा धर्मके सम्बन्धमें सुरुचिको स्वाभाविक कर दिया जाता है। कोरा उपदेश नहीं दिया जाता, शक्ति दी जाती है। नीतिकी बातें बाहरी आभूषणोंकी तरह जीवनके ऊपर लटका

दी जाती हैं—उनका भीतर प्रवेश नहीं होता; परन्तु ब्रह्मचर्यपालन ऐसा नहीं है। इससे जीवन ही धर्मके साथ गढ़ दिया जाता है और इस तरह धर्मको विरुद्ध पक्षमें खड़ा न करके वह अन्तरंगमें मिला दिया जाता है—तन्मय कर दिया जाता है। अतएव जीवनके आरम्भमें मनको और चरित्रको गढ़नेके समय नीतिके उपदेशोंकी जरूरत नहीं; किन्तु अनुकूल अवस्थाओं और अनुकूल नियमों की ही सबसे अधिक आवश्यकता है।

केवल ब्रह्मचर्यपालन ही नहीं, इस अवस्थामें विश्वप्रकृति की अनुकूलता भी होनी चाहिए। शहर हमारे स्वाभाविक निवासस्थान नहीं है—मनुष्यके कामकाजोंकी जरूरतसे और मतलबसे ये बन गये हैं। विधाताकी यह इच्छा नहीं थी कि हम जन्म लेकर ईंट-काठ-पत्थरोंकी गोदमें पलकर मनुष्य बनें। हमारे आफिसोंके और शहरोंके साथ फल-फूल-पत्र-चन्द्र-सूर्यका कोई सम्बन्ध नहीं। ये शहर हमें सजीव और सरस विश्वप्रकृतिकी छातीसे छीनकर अपने उत्तप्त उदरमें डालकर पचा डालते हैं। पर जिन लोगोंको इनमें रहनेका अभ्यास हो गया है और जो कामकाजके नशेमें विह्वल रहते हैं, वे इस शहरनिवासमें कष्टका अनुभव नहीं करते—वे धीरे धीरे स्वभावसे भ्रष्ट होकर विशाल जगतसे बराबर जुदा होते जाते हैं।

किन्तु, कामके चक्करमें पड़कर सिर टकरानेके पहले, अर्थात् सीखनेके समय—उस समय जब कि बच्चोंकी मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ बढ़ती हैं—उन्हें प्रकृतिकी सहायता बहुत ही जरूरी है। उनके लिए फूल पत्ते, स्वच्छ आकाश, निर्मल जलाशय और विस्तृत दृश्य ये सब वस्तुयें बेंच और बोर्ड, पुस्तक और परीक्षाओंसे कम जरूरी नहीं हैं।

भारतवर्षका मन चिरकालतक इन सब विश्वप्रकृतियोंके साथ

घनिष्ट सम्बन्ध रहनेसे ही गढ़ा गया है और इसलिए जगतकी जड़-चेतन सृष्टिके साथ आपको एकात्मभावसे व्याप्त कर देना—मिला देना—भारतवर्षके लिए बिलकुल स्वभावसिद्ध है। भारतके तपोवनों में द्विजातियोंके बालक निम्नलिखित मन्त्रकी आवृत्ति किया करते थे:—

यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वभुवनमाविवेश।
यो ओषधिषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥

अर्थात् जो प्रकृति देवता अग्निमें, जलमें, विश्वभुवनमें प्रविष्ट हो रही है और जो ओषधियोंमें तथा वनस्पतियोंमें है उसे नमस्कार हो, नमस्कार हो।

अग्नि, वायु, जल और स्थलरूप विश्वको विश्वात्माके द्वारा सहज ही परिपूर्ण करके देखना सीखना ही सच्चा सीखना या शिक्षा है। यह शिक्षा शहरोंके स्कूलोंमें ठीक ठीक नहीं दी जा सकती। क्योंकि वहाँ विद्या सिखानेके कारखानोंमें हम जगतको एक प्रकार का यन्त्र समझना ही सीख सकते हैं।

किन्तु आजकलके दिनोंमें जो कामकाजमें मस्त रहनेवाले लोग हैं वे इन सब बातोंको मिस्टिसिजम् या भावकुहेलिका समझकर उड़ा देंगे—इस पर उनकी श्रद्धा न होगी। अतएव हम नहीं चाहते कि इस विषयको लेकर हम अपनी सारी आलोचनाको ही अश्रद्धा-भाजन बना डालें। तो भी मालूम होता है कि इस बातको तो कामकाजी लोग भी एकबारगी न उड़ा दे सकेंगे कि खुला आकाश, खुली हवा और फूल-पत्ते मानवसन्तानके शरीर और मनकी परिणतिके लिए बहुत ही आवश्यक हैं। जब उमर बढ़ेगी, आफिस जिस समय अपनी ओर खींचेंगे, लोगोंकी भीड़ जब हमें ठेलकर चलेगी और मन जब नाना प्रयोजनोंसे नाना दिशाओंमें घूमेगा, तब विश्वप्रकृतियोंके साथ हमारे हृदयका प्रत्यक्ष मिलाप होना

बन्द हो जायगा। इसलिए उसके पहले ही हमने जिस जल-स्थल-आकाश-वायु-रूप माताकी गोदमें जन्म लिया है, उसके साथ हमें अच्छी तरह परिचय कर लेना चाहिए, माताके दूधके समान उस का अमृतरस खींच लेना चाहिए और उसका उदार मन्त्र ग्रहण कर लेना चाहिए। ऐसा करनेसे ही हम सच्चे और पूरे मनुष्य बन सकेंगे। बालकोंका हृदय जब नवीन रहता है, उनका कौतूहल जब सजीव होता है और उनकी सारी इन्द्रियोंकी शक्ति जब सतेज रहती है, तब उन्हें खुले हुए आकाशमें जहाँ कि मेघ और धूप खेलती रहती है--खेलने दो। उन्हें इस पृथ्वी माताके आलिंगनसे वंचित मत करो। सुन्दर और निर्मल प्रातःकालमें सूर्यको उनके प्रत्येक दिनका द्वार अपनी ज्योतिर्मय उँगलियोंके द्वारा खोलने दो और सौम्य गंभीर सन्ध्याको उनका दिवावसान नक्षत्रखचित अन्धकारमें चुपचाप निमिलित होने दो! वृक्ष और लताओंके शाखा-पल्लवोंसे सुशोभित नाटकशालामें छह अंकोंमें छह ऋतुओं का नानारसविचित्र गीतिनाटकका अभिनय उनके सामने होने दो! वे झाड़ोंके नीचे खड़े होकर देखें कि नव वर्षा यौवराज्यपद पर अभिषिक्त राजपुत्रके समान अपने दलके दल सजल बादल लेकर आनंद गर्जन करती हुई चिरकालकी प्यासी वनभूमिके ऊपर आसन्न वर्षणकी छाया डाल रही है और शरत्कालमें अन्नपूर्णा धरती की छाती पर ओससे सींची हुई, वायुसे लहराती हुई तरह तरहके रंगों से चित्रित और चारों दिशाओंमें फैली हुई खेतोंकी शोभाको अपनी आंखोंसे देखकर उन्हें धन्य होने दो! हे बालकोंके रक्षक अभिभावकगण, तुम अपनी कल्पनावृत्तिको चाहे जितनी निर्जीव और अपने हृदयको चाहे जितना कठिन बनालो; परन्तु दोहाई तुम्हारी, यह बात कमसे कम लज्जाकी खातिर ही मत कहना कि, बालकों को इनकी कुछ आवश्यकता नहीं है। अपने बच्चोंको इस विशाल

विश्वमें रहकर विश्वजननीके लीलास्पर्शका अनुभव करने दो ! तुम्हारे इन्स्पेक्टरोंके मुलाहिजों और परीक्षकोंकेप्रश्न पत्रोंकी अपेक्षा यह कितना उपयोगी है इसका भलेही तुम अपने हृदयमें अनुभव न कर सकते हो, तो भी बालकोंके कल्याणके लिए तो इसकी बिलकुल उपेक्षा मत करो।

जिस समय मन बढ़ता रहता है उस समय उसके चारों ओर एक बड़ा भारी अवकाश रहना चाहिए। यह अवकाश विश्वप्रकृतिके बीच विशाल भावसे, विचित्र भावसे और सुन्दर भावसे मौजूद है। किसी तरह साढ़े नव और दस बजेके भीतर अन्न निगलकर शिक्षा देने की मृगशालामें पहुँचकर हाजिरी देनेसे बच्चोंकी प्रकृति किसी भी तरह सुस्थभावसे विकसित नहीं हो सकती। हाय ! हमारी शिक्षा दीवालों से घेरकर, दरवाजोंसे रुद्धकर, दरवान बिठाकर, दण्ड या सजा से कण्टकितकर, और घण्टानादद्वारा सचेत करके कैसी विलक्षण बना दी गई है ! मानव जीवनके आरम्भमें यह कैसे निरानन्दकी सृष्टि की गई है ! बच्चे बीजगणित न सीखकर और इतिहासकी तारीखें कण्ठ न करके माताके गर्भसे जन्म लेते हैं, इसके लिए क्या ये बेचारे अपराधी हैं ? मालूम होता है इसी अपराधके कारण इन अभागोंसे उनका आकाश वायु और उनका सारा आनंद अवकाश छीनकर शिक्षा उनके लिए सब प्रकारसे शास्ति या दण्डरूप बना दी जाती है। परंतु जरा सोचो तो सही कि बच्चे अशिक्षित अवस्था में क्यों जन्म लेते हैं। हमारी समझमें तो वे न-जानने से धीरे धीरे जाननेका आनंद पावेंगे, इसीलिए अशिक्षित होते हैं। हम अपनी असमर्थता और बर्बरताके वश यदि ज्ञानशिक्षाको आनन्दजनक न बना सकें, तो न सही, पर चेष्टा करके, जान बूझकर, अतिशय निष्ठुरतापूर्वक निरपराधी बच्चोंके विद्यालयोंको कारागार (जेलखाने) तो न बना डालें। बच्चोंकी शिक्षाको विश्वप्रकृतिके उदार रमणीय

अवकाशमें से उन्मेषित करना ही विधाताका अभिप्राय है। इस अभिप्राय को हम जितना ही व्यर्थ करते हैं, उतना ही अधिक वह व्यर्थ होता है। मृगशालाकी दीवालें तोड़ डालो, मातृ-गर्भके दस महीनों में बच्चे पण्डित नहीं हुए, इस अपराध पर उन बेचारोंको सपरिश्रम कारागारका दण्ड मत दो, उन पर दया करो।

इसीसे हम कहते हैं कि शिक्षाके लिए इस समय भी हमें वनों का प्रयोजन है और गुरुगृहभी हमें चाहिए। वन हमारे सजीव निवासस्थान हैं और गुरु हमारे सहृदय शिक्षक हैं। आज भी हमें उन वनोंमें और गुरुगृहोंमें अपने बालकोंको ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक रख कर उनकी शिक्षा पूर्ण करनी होगी। कालसे हमारी अवस्थाओं में चाहे जितनेही परिवर्तन क्यों न हुआ करें, परन्तु इस शिक्षानियम की उपयोगिता में कुछ भी कमी नहीं आ सकती; कारण यह नियम मानवचरित्रके चिरस्थायी सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित है।

अतएव, यदि हम आदर्शविद्यालय स्थापित करना चाहें तो हमें मनुष्योंकी बस्तीसे दूर, निर्जन स्थानमें, खुले हुए आकाश और विस्तृत भूमि पर झाड़-पेड़ोंके बीच उनकी व्यवस्था करनी चाहिए। वहाँ अध्यापकगण एकान्तमें पठनपाठनमें नियुक्त रहेंगे और छात्र-गण उस ज्ञानचर्चाके यज्ञक्षेत्रमें ही बढ़ा करेंगे।

यदि बन सके तो इस विद्यालयके साथ थोड़ीसी फसलकी जमीनभी रहनी चाहिए। इस जमीनसे विद्यालयके लिए प्रयोजनीय खाद्यसामग्री संग्रहकी जायगी और छात्र खेतीके काममें सहायता करेंगे। दूध घी आदि चीजोंके लिए गाय-भैंसें रहेंगी और छात्रों को गोपालन करना होगा। जिस समय बालक पढ़ने लिखनेसे छुट्टी पावेंगे, उस विश्रामकालमें वे अपने हाथसे बाग लगावेंगे, झाड़ोंके चारों ओर आलबाल खोदेंगे, उनमें जल सींचेंगे और बाग की रक्षाके लिए बाढ़ लगावेंगे। इस तरह वे प्रकृतिके साथ केवल

भावका ही नहीं, कामका सम्बन्ध भी जारी रक्खेंगे।

अनुकूल ऋतुओंमें बड़े बड़े छायादार वृक्षोंके नीचे छात्रोंकी क्लासें बैठेंगी। उनकी शिक्षाका कुछ अंश अध्यापकोंके साथ वृक्षोंके नीचे घूमते-घामते समाप्त होगा और सन्ध्याका अवकाशकाल वे नक्षत्रोंकी पहचान करनेमें, सङ्गीतचर्चामें, पुराणकथाओंमें और इतिहासकी कहानियाँ सुननेमें व्यतीत करेंगे।

कोई अपराध बन जाने पर छात्र हमारी प्राचीन पद्धतिके अनुसार प्रायश्चित्त करेंगे। दण्ड और प्रायश्चित्तमें बहुत बड़ा अन्तर है। दूसरोंके द्वारा अपराध का प्रतिफल पाना दण्ड है और अपने ही द्वारा अपराधका संशोधन करना—उससे मुक्त होना प्रायश्चित्त है। छात्रोंको इस प्रकारकी शिक्षा शुरूसे ही मिलनी चाहिए कि दण्डस्वीकार करना खुदका ही कर्तव्य है—उसके स्वीकार किये बिना हृदयकी ग्लानि दूर नहीं होती। दूसरेके द्वारा आपको दण्डित करना मनुष्योचित कार्य नहीं हो सकता।

यदि आप लोग क्षमा करें तो इस मौके पर साहस करके मैं एक बात और कह दूँ। इस आदर्शविद्यालयमें बेंचों, टेबिलों, कुर्सियों और चौकियोंकी जरूरत नहीं। मैं यह बात अँगरेजी चीजोंके विरुद्ध आन्दोलन करनेके लिए नहीं कहता हूँ। नहीं, मेरा वक्तव्य यह है कि हमें अपने विद्यालयमें अनावश्यकताकी आवश्यकता न बढ़ने देनेका एक आदर्श सब तरह स्पष्ट कर रखना होगा। टेबिल, कुर्सी, बेंच आदि चीजें मनुष्यको हर वक्त नहीं मिल सकती; किन्तु भूमितल एक ऐसी चीज है कि उसे कोई कभी छीन नहीं ले सकता। इसके विरुद्ध कुर्सी-टेबिलें अवश्य ऐसी हैं कि वे हमारे भूमितलको छीन लेती हैं। क्योंकि अभ्यास पड़ जाने पर हमारी ऐसी दशा हो जाती है कि यदि कभी भूमितल पर बैठनेके लिए हमें लाचार होना पड़ता है तो न तो हमें आराम

मिलता है और न सुभीता ही मालूम होता है। विचार करके देखा जाय तो यह एक बड़ी भारी हानि है। हमारा देश शीतप्रधान देश नहीं है, हमारा पहनाव-ओढ़ाव भी ऐसा नहीं है कि हम नीचे न बैठ सकें, तब परदेशोंके समान अभ्यास डालके हम असबाबकी बहुलतासे अपने कष्ट क्यों बढ़ावें? हम जितना ही अनावश्यकको अत्यावश्यक बनावेंगे उतना ही हमारी शक्तिका अपव्यय होगा। इसके सिवा धनी यूरोपके समान हमारी पूँजी भी तो नहीं है। उसके लिए जो बिलकुल सहज है हमारे लिए वही भाररूप है। हम ज्यों ही किसी अच्छे कार्यका प्रारंभ करते हैं और उसके लिए आवश्यक इमारत, असबाब, फरनीचर आदि का हिसाब लगाते हैं त्यों ही हमारी आँखोंके आगे अँधेरा छा जाता है। क्योंकि इस हिसाबमें अनावश्यकताका उपद्रव रुपयेमें बारह आने होता है। हममेंसे कोई साहस करके नहीं कह सकता कि हम मिट्टीके सादे घरमें काम आरंभ करेंगे और धरतीमें आसन बिछाकर सभा करेंगे। यदि हम यह बात जोरसे कह सकें और कर सकें, तो हमारा आधेसे अधिक वजन उतर जाय और काममें कुछ अधिक तारतम्य भी न हो। परंतु जिस देशमें शक्तिकी सीमा नहीं है, जिस देशमें धन कौने कौनेमें भरकर छलका पड़ता है, उस धनी यूरोपका आदर्श अपने सब कामोंमें बनाये बिना हमारी लज्जा दूर ही नहीं होती—हमारी कल्पना तृप्त ही नहीं होती। इससे हमारी क्षुद्र शक्तिका बहुत बड़ा भाग अयोजनोंमें-तैयारियों में ही निःशेष हो जाता है, असली चीजके लिए हम खुराक ही नहीं जुटा पाते। हम जितने दिन पट्टियों पर खड़िया पोतकर लिखनेका अभ्यास करते रहे, उसने दिनतक तो पाठशाला स्थापन करनेका हमारा विचार ही नहीं था; अब बाजारोंमें स्लेट-पेन्सिलोंका प्रादुर्भाव हो गया है परंतु पाठशाला स्थापित करना

मुश्किल हो गया है। सब ही विषयोंमे यह बात देखी जाती है। पहले आयोजन कम थे, सामाजिकता अधिक थी; अब आयोजन बढ़ चले हैं, और सामाजिकतामें घाटा आ रहा है। हमारे देशमें एक दिन था, जब हम असबाब आडम्बरको ऐश्वर्य कहते थे किंतु सभ्यता नहीं कहते थे; कारण उस समय देशमें जो सभ्यताके भाण्डारी थे उनके भाण्डारमें असबाबकी अधिकता नहीं थी। वे दारिद्र्यको कल्याणमय बना करके सारे देशको सुस्थ स्निग्ध रखते थे। कमसे कम शिक्षाके दिनोंमें यदि हम इस आदर्शसे मनुष्य हो सकें तो और चाहे कुछ न हो पर हम अपने हाथमें कितनी ही क्षमता या सामर्थ्य अवश्य पा सकेंगे। मिट्टीमें बैठ सकनेकी क्षमता, मोटा पहननेकी मोटा खानेकी क्षमता, यथासंभव थोड़े आयोजनमे यथासंभव अधिक काम चलानेकी क्षमता—ये सब मामूली क्षमतायें नहीं हैं और ये साधनाकी--अभ्यासकी--अपेक्षा रखती हैं। सुगमता, सरलता, सहजता ही यथार्थ सभ्यता है—इसके विरुद्ध आयोजनोंकी जटिलता एक प्रकारकी बर्बरता है। वास्तवमें वह पसीनेसे तरबतर अक्षमताका स्तूपाकार जंजाल है। इस प्रकारकी शिक्षा विद्यालयों में शिशुकालसे ही मिलनी चाहिए--और सो भी निष्फल उपदेशों द्वारा नहीं, प्रत्यक्ष दृष्टान्तों द्वारा--कि थोड़ी बहुत जड़ वस्तुओंके अभावसे मनुष्यत्वका सन्मान नष्ट नहीं होता, वरन् बहुधा स्थलों में स्वाभाविक दीप्तिसे उज्वल हो उठता है। हमें इस बिलकुल सीधीसादी बातको सब तरह साक्षात् भावसे बालकोंके सामने स्वाभाविक कर देना होगा। यदि यह शिक्षा न मिलेगी तो हमारे बालक केवल अपने हाथ पैरोंका, और घरकी मिट्टीका ही अनादर न करेंगे किंतु अपने पिता पितामहोंको घृणाकी दृष्टिसे देखेंगे और प्राचीन भारतवर्षकी साधनाका माहात्म्य यथार्थरूपसे अनुभव न कर सकेंगे।

यहाँ शंका उपस्थित होगी कि यदि तुम बाहरी तड़क-भड़क चाकचिक्यका आदर नहीं करना चाहते तो फिर तुम्हें भीतरी वस्तुको विशेष भावसे मूल्यवान् बनाना होगा—सो क्या उस मूल्यके देनेकी शक्ति तुममें है ? अर्थात् क्या तुम उस बहुमूल्य आदर्श शिक्षाकी व्यवस्था कर सकते हो ? गुरुगृह स्थापित करते ही पहले गुरुओंकी आवश्यकता होगी। परन्तु इसमें यह बड़ी भारी कठिनाई है कि शिक्षक या मास्टर तो अखबारोंमें नोटिस दे देनेसे ही मिल जाते हैं, पर गुरु तो आर्डर देनेसे भी नहीं पाये जाते।

इसका समाधान यह है—यह सच है कि हमारी जो कुछ संगति है—पूँजी है—उसकी अपेक्षा अधिकका दावा हम नहीं कर सकते। अत्यन्त आवश्यकता होने पर भी सहसा अपनी पाठशाला में गुरु महाशयके आसन पर याज्ञवल्क्य ऋषिको ला बिठाना हमारे हाथकी बात नहीं है। किन्तु यह बात भी विवेचना करके देखनी होगी कि हमारी जो संगति या पूँजी है अवस्थादोषसे यदि हम उसका पूरा दावा न करेंगे तो अपना सारा मूलधन भी न बचा सकेंगे। इस तरहकी घटनायें अकसर घटा करती हैं। लिफाफे पर डाँकके टिकिट चिपकानेके लिए ही यदि हम पानीके घड़ेका व्यवहार करें तो उस घड़ेका अधिकांश पानी अनावश्यक होगा: पर यदि हम स्नान करें तो उस घड़ेका जल सबका सब खाली किया जा सकता है;—अर्थात् एक ही घड़ेकी उपयोगिता व्यवहार करनेके ढँगोंसे कम बढ़ हो जाती है। ठीक इसी तरह हम जिन्हें स्कूलके शिक्षक बनाते हैं उनका हम इस ढँगसे व्यवहार करते हैं कि उनके हृदयों और मनोंका बहुत ही कम अंश काम में लगता है—वे कलके समान काम किया करते हैं। फोनोग्राफ यन्त्रके साथ यदि हम एक बेत और थोड़ासा मस्तक और जोड़ दें तो बस वह स्कूलका शिक्षक बन सकता है। किन्तु यदि इसी शिक्षकको हम

गुरुके आसन पर बिठा दें तो स्वभावसे ही उसके हृदयकी और मनकी शक्ति समग्र भावसे शिष्योंकी ओर दौड़ेगी। यह सच है कि उसकी जितनी शक्ति है उससे अधिक वह शिष्योंको न दे सकेगा, किंतु उसकी अपेक्षा कम देना भी उसके लिए लज्जाकर होगा। जबतक एक पक्ष यथार्थ भावसे दावा न करेगा तबतक दूसरे पक्षमें सम्पूर्ण शक्तिका उद्बोधन न होगा। आज स्कूलके शिक्षकोंके रूपमें देशकी जो शक्ति काम कर रही है, देश यदि सच्चे हृदयसे प्रार्थना करे तो गुरुरूपमें उसकी अपेक्षा बहुत अधिक शक्ति काम करेगी।

आजकल प्रयोजनके नियमानुसार शिक्षक छात्रोंके पास आते हैं, अर्थात् शिक्षक गरजी बन गये हैं; परन्तु स्वाभाविक नियमसे शिष्योंको गुरुके पास जाना चाहिए—छात्रोंकी गरज होनी चाहिए। अब शिक्षक एक तरहके दूकानदार हैं और विद्या पढ़ाना उनका व्यवसाय है। वे ग्राहकों या खरीददारोंकी खोजमें फिरा करते हैं। दूकानदारके यहाँ से लोग चीजें खरीद करते हैं, परन्तु उसकी बिकाऊ चीजोंमें स्नेह, श्रद्धा, निष्ठा आदि हृदयकी चीजें भी होंगी, इस प्रकारकी आशा नहीं की जा सकती। इसी कारण शिक्षक वेतन (तनख्वाह) लेते हैं और विद्याको बेच देते हैं—और यहीं पर दूकानदार और ग्राहकों के समान शिक्षक और छात्रों का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। इस प्रकारकी प्रतिकूल अवस्थामें भी बहुतसे शिक्षक लेन-देन का सम्बन्ध छोड़ देते हैं। हमारे शिक्षक जब यह समझने लगेंगे कि हम गुरुके आसन पर बैठे हैं, और हमें अपने जीवनके द्वारा छात्रोंमें जीवनसञ्चार करना है, अपने ज्ञानके द्वारा छात्रोंमें ज्ञानकी बत्ती जलानी है, अपने स्नेहके द्वारा बालकोंका कल्याणसाधन करना है, तब ही वे गौरवान्वित हो सकेंगे—तब वे ऐसी चीजका दान करनेको तैयार होंगे जो पण्यद्रव्य

नहीं है, जो मूल्य देकर नहीं पाई जा सकती और तब ही वे छात्रों के निकट शासनके द्वारा नहीं किन्तु धर्मके विधान तथा स्वभावके नियमसे भक्ति करने योग्य-पूज्य-बन सकेंगे। वे जीविका के अनुरोधसे वेतन लेने पर भी बदलेमें उसकी अपेक्षा बहुत अधिक देकर अपने कर्तव्यको महिमान्वित कर सकेंगे। यह बात किसीसे छुपी नहीं है कि अभी थोड़े दिन पहले जब देशके विद्यालयोंमें राजचक्रकी शनिदृष्टि पड़ी थी, तब बीसों प्रवीन और नवीन शिक्षकोंने जीविकालुब्ध शिक्षकवृत्तिकी कलङ्ककालिमा कितने निर्लज्ज भावसे समस्त देशके सामने प्रकाशित की थी। यदि वे भारतके प्राचीन गुरुओंके आसन पर बैठे होते तो पदवृद्धिके मोह से और हृदयके अभ्यासके वशसे छोटे छोटे बच्चों पर निगरानी रखनेके लिए सरकारी सिपाही बिठाकर अपने व्ययसायको इस तरह घृणित नहीं कर सकते। अब प्रश्न यह है कि शिक्षारूपी दूकानदारीकी नीचतासे क्या हम देशके शिक्षकोंको और छात्रोंको नहीं बचा सकते ?

किन्तु हमारा इन सब विस्तृत आलोचनाओंमें प्रवृत्त होना जान पड़ता है कि व्यर्थ जा रहा है-मालूम होता है बहुतोंको हमारी इस शिक्षाप्रणालीकी मूल बातमें ही आपत्ति है। अर्थात् वे लिखना पढ़ना सिखलानेके लिए अपने बालकोंको दूर भेजना हितकारी नहीं समझते।

इस विषयमें हमारा प्रथम वक्तव्य यह है कि हम आजकल जिसको लिखना पढ़ना समझते हैं उसके लिए तो केवल इतना ही काफी है कि अपने मुहल्लेकी किसी गलीमें कोई एक सुभीतेका स्कूल देख लिया और उसके साथ बहुत हुआ तो एक प्राइवेट ट्यूटर भी रख लिया। जो शिक्षा इस उद्देश्यको सामने रखकर दी जाती है कि—'लिखना पढ़ना सीखे जोई, गाड़ी घोड़ा पावे

सोई।' वह शिक्षा ही नहीं। शिक्षाकी यह दीनता और कृपणता मानवसन्तानके लिए सर्वथा अयोग्य है।

दूसरा वक्तव्य यह है कि, 'शिक्षाके लिए बालकोंको घरसे दूर भेजना उचित नहीं है, इस बातको हम तब मान सकते थे जब हमारे घर वैसे होते जैसे कि होने चाहिए थे। कुम्हार, लुहार, बढ़ई, जुलाहे आदि शिल्पकार अपने बच्चोंको अपने पास रखकर ही मनुष्य बना लेते हैं और वे उन्हीं जैसा काम करने लगते हैं। इसका कारण यह है कि वे जितनी शिक्षा देना चाहते हैं उतनी शिक्षा घर रखकर ही अच्छी तरहसे दी जा सकती है—उनका घर उसके योग्य होता है। पर शिक्षाका आदर्श यदि इससे कुछ और उन्नत हो तो बालकोंको स्कूल भेजना होगा। तब यह कोई न कहेगा कि मां-बापके पास सिखाना ही सर्वापेक्षा अच्छा है, क्योंकि अनेक कारणोंसे ऐसा होना संभव नहीं। शिक्षाके आदर्श को यदि हम और भी ऊँचा उठाना चाहें, यदि परीक्षाफल-लोलुप पुस्तकशिक्षाकी ओर ही हम न देखें, यदि सर्वाङ्गीण मनुष्यत्वकी दीवाल खड़ी करनेको ही हम शिक्षाका लक्ष्य निश्चय करें, तो उसकी व्यवस्था न तो घरहीमें हो सकेगी—और न स्कूलोंमें ही हो सकेगी।

संसारमें कोई वणिक है, कोई वकील है, कोई धनी जमींदार है और कोई कुछ और है। इन सबहीके घरकी आबहवा स्वतन्त्र या जुदा जुदा तरहकी है और इसलिए इनके घरके बच्चों पर छुटपनही से जुदा जुदा तरहकी छाप लग जाती है।

जीवनयात्राकी विचित्रताके कारण मनुष्यमें अपने आप जो एक विशेषत्व घटित होता है वह अनिवार्य है और इस प्रकार एक एक व्यवसायका विशेष आकार प्रकार लेकर मनुष्य जुदा जुदा कोठोंमें विभक्त हो जाता है; किन्तु संसारक्षेत्रमें पैर रखनेके पहले

बालकोंका अपने पालनपोषणकर्त्ताओंके या अभिभावकोंके साँचेमें ढलना उनके लिए कल्याणकारी नहीं है।

उदाहरणके लिए एक धनीके लड़कोंको देखिए। यह ठीक है कि लड़के धनीके घरमें जन्म लेते हैं किंतु वे कोई ऐसी विशेषता लेकर जन्म नहीं लेते जिससे मालूम हो कि वे धनीके लड़के हैं। धनीके लड़कोंमें और गरीबके लड़कोंमें उस समय कोई विशेष प्रभेद नहीं होता; जन्म होनेके दूसरे दिनसे मनुष्य उस प्रभेदको अपने हाथों गढ़ता है।

ऐसी अवस्थामें माँ-बापके लिए उचित है कि वे पहले लड़कोंके साधारण मनुष्यत्वको पक्का करके उसके बाद उन्हें आवश्यकतानुसार धनीकी सन्तान बनावें। किन्तु ऐसा नहीं होता, वे सब प्रकारसे मानव-सन्तान बननेके पहले ही धनीकी सन्तान बन जाते हैं। इससे दुर्लभ मानवजन्मकी बहुतसी बातें उनके भाग्यमें बाद पड़ जाती हैं—जीवन-धारणके अनेक रसास्वादोंकी क्षमता ही उनकी नष्ट हो जाती है। पहले तो पिंजरेके बद्धपक्ष पक्षीके समान धनिक-पुत्रको उसके मा-बाप हाथ पैरोंके रहते हुए भी पंगु बना डालते हैं—वह चल नहीं सकता, उसके लिए गाड़ी चाहिए; बिलकुल मामूली बोझा उठानेकी शक्ति नहीं रहती, कुली चाहिए; अपने काम कर सकनेकी सामर्थ्य नहीं रहती, चाकर चाहिए। केवल शारीरिक शक्तिके अभावसे ही ऐसा होता हो सो नहीं है,—लोकलज्जाके मारे उस हतभागेको अपने अङ्गप्रत्यङ्गोंके सुस्त तथा सुदृढ होने पर भी पक्षाघात (लकवा) ग्रस्त बनना पड़ता है। जो सहज है वह उसके लिए कष्टकर और जो स्वाभाविक है वह उसके लिए लज्जाकर हो जाता है। समाजके लोगोंके मुँहकी ओर देखकर—वे हमारे कामको अनुचित न कहने लगें इस खयालसे—उसे जिन अनावश्यक शासनोंमें कैद होना पड़ता है उनसे वह सहज मनुष्यके

बहुत से अधिकारोंसे वञ्चित हो जाता है। पीछे कहीं उसे कोई धनी न समझे, इतनी सी भी लज्जा वह नहीं सह सकता, इसके लिए उसे पर्वततुल्य भार वहन करना पड़ता है और इसी भारके कारण वह पृथिवीमें पैर पैर पर दबा जाता है। उसको कर्तव्य करना हो तो भी इस सारे बोझेको उठा करके करना होगा, आराम करना हो तो भी इस भारको लादकर करना होगा—भ्रमण करना हो तो भी इस सब भारको साथ साथ खींचते हुए करना होगा। यह एक बिलकुल सीधी और सत्य बात है कि सुख मनसे सम्बन्ध रखता है—आयोजनों या आडम्बरोंसे नहीं। परन्तु यह सरल सत्य भी वह जानने नहीं पाता—इसे हर तरहसे भुलाकर वह हजारों जड़ पदार्थोंका दासानुदास बना दिया जाता है। अपनी मामूली जरूरतोंको वह इतना बढ़ा डालता है कि फिर उसके लिए त्याग स्वीकार करना असाध्य हो जाता है और कष्ट स्वीकार करना असम्भव हो जाता है। जगतमें इतना बड़ा कैदी और इतना बड़ा लँगड़ा शायद ही और कोई हो। इतने पर भी क्या हमें यह कहना होगा कि ये सब पालनपोषणकर्ता माँ-बाप—जो कृत्रिम असमर्थताको गर्वकी सामग्री बनाकर खड़ी कर देते हैं और पृथिवीके सुन्दर धानके खेतोंको कांटेदार झाड़ोंसे छा डालते हैं—अपनी सन्तानके सच्चे हितैषी हैं? जो जवान होकर अपनी इच्छासे विलासितामें मग्न हो जाते हैं उन्हें तो कोई नहीं रोक सकता; किन्तु बच्चे, जो धूल मिट्टीसे घृणा नहीं करते, जो धूप, वर्षा और वायुको चाहते हैं, जो सज-धज करानेमें कष्ट मानते हैं, अपनी सारी इन्द्रियोंकी चालना करके जगतको प्रत्यक्ष भावसे परीक्षा करके देखनेमें ही जिन्हें सुख मालूम होता है, अपने स्वभाव के अनुसार चलनेमें जिन्हें लज्जा, संकोच, अभिमान आदि कुछ भी नहीं होता, वे जान बूझकर बिगाड़े जाते हैं और चिरकालके

लिए अकर्मण्य बना दिये जाते हैं, यह बड़े ही दुःखका विषय है। भगवन्, ऐसे पितामाताओंके हाथसे इन निरपराध बच्चोंकी रक्षा करो, इन पर दया करो।

हम जानते हैं कि बहुतसे घरोंमें बालक बालिका साहब बनाये जा रहे हैं। वे आयाओं या दाइयोंके हाथोंसे मनुष्य बनते हैं, विकृत बेढंगी हिन्दुस्तानी सीखते हैं, अपनी मातृभाषा भूल जाते हैं और भारतवासियोंके बच्चोंके लिए अपने समाजसे जिन सैकड़ों हजारों भावोंके द्वारा निरन्तर ही विचित्र रसोंका आकर्षण करके पुष्ट होना स्वाभाविक था, उन सब स्वजातीय नाड़ियोंके सम्बन्धसे वे जुदा हो जाते हैं और इधर अँगरेजी समाजके साथ भी उनका सम्बन्ध नहीं रहता। अर्थात् वे अरण्यसे उखाड़े जाकर विलायती टीनके टबोंमें बड़े होते हैं। हमने अपने कानोंसे सुना है कि इस श्रेणीका एक लड़का दूरसे अपने कई देशीयभावापन्न रिश्तेदारोंको देखकर अपनी मासे बोला था—"Mamma, Mamma, look, lot of Babus are coming." एक भारतवासी लड़केकी इससे अधिक दुर्गति और क्या हो सकती है! बड़े होने पर स्वाधीन रुचि और प्रवृत्तिके वश जो साहबी चाल चलना चाहें वे भले ही चलें, किन्तु उनके बचपनमें जो सब मा-बाप बहुत अपव्यय और बहुतसी अपचेष्टासे सन्तानोंको सारे समाजसे बाहर करके स्वदेशके लिए अयोग्य और विदेशके लिए अग्राह्य बना डालते हैं, सन्तानों को कुछ समयके लिए केवल अपने उपार्जनके बिलकुल अनिश्चित आश्रयके भीतर लपेट रखकर भविष्यतकी दुर्गतिके लिए जान-बूझ कर तैयार करते हैं, उन सब अभिभावकोंके निकट न रहकर बालक यदि दूर रक्खे जायँ तो क्या कोई बड़ी भारी दुश्चिन्ताका कारण हो जायगा?

ऊपर हमने जो एक दृष्टान्त दिया है उसका एक विशेष

कारण है। साहबीपनका जिन्हें अभ्यास नहीं है, यह दृष्टांत उनके चित्तों पर बड़े जोरसे चोट पहुँचायगा। वे सचमुच ही मन-ही-मन सोचेंगे कि लोग यह इतनी सी मामूली बात क्यों नहीं समझते—वे सारा भविष्यत् भूलकर केवल अपने कितने ही विकृत अभ्यासोंकी अंधताके वश बच्चोंका इस प्रकार सर्वनाश करनेके लिए क्यों तत्पर हो जाते हैं!

किन्तु यह याद रखना चाहिए कि जिन्हें साहबीपनका अभ्यास हो रहा है, वे यह सब काम बहुत ही सहज भावसे किया करते हैं। यह बात कभी उनके मनमें ही नहीं आ सकती कि हम सन्तानको किसी दूषित अभ्यासमें डाल रहे हैं। क्योंकि हमारे निजके भीतर जो सब खास खास विकृतियाँ होती हैं उनके सम्बन्धमें हम एक तरहसे अचेतन ही रहते हैं—उन्होंने हमें अपनी मुट्ठीमें इस तरह कर रक्खा है कि उनसे और किसीका अनिष्ट तथा असुविधा होने पर भी हम उनकी ओरसे लापरवा रहते हैं—यह नहीं सोचते कि इनसे दूसरोंको हानि पहुँच रही है। हम समझते हैं कि परिवारके भीतर क्रोध, द्वेष, अन्याय, पक्षपात, विवाद, विरोध, ग्लानि, बुरे अभ्यास, कुसंस्कार आदि अनेक बुरी बातोंका प्रादुर्भाव होने पर भी उस परिवारसे दूर रहना ही बालकोंके लिए सबसे बड़ी विपत्ति है। यह बात कभी हमारे मनमें उठती ही नहीं कि हम जिसके भीतर रहकर मनुष्य हुए हैं, उस (परिवार) के भीतर और किसी के मनुष्य बननेमें कुछ बाधा पड़ेगी या नहीं। किन्तु यदि मनुष्य बनानेका आदर्श सच हो, यदि बालकोंको अपने ही जैसा काम चलाऊ आदमी बनानेको हम यथेष्ट न समझते हों तो यह बात हमारे मनमें जरूर उठेगी कि बालकोंको शिक्षाके समय ऐसी जगह रखना हमारा कर्तव्य है कि जहाँ वे स्वभावके नियमानुसार विश्व-प्रकृतिके साथ घनिष्ट सम्बन्ध रखकर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक गुरुओंके

सहवासमें ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य बन सकें।

भ्रूणको गर्भके भीतर और बीजको मिट्टीके भीतर अपने उपयुक्त खाद्यसे परिवृत होकर गुप्त रहना पड़ता है। उस समय रात दिन उन दोनोंका एक मात्र काम यही रहता है कि खाद्यको खींचकर आपको आकाशके लिए और प्रकाशके लिए तैयार करते रहना। उस समय वे आहरण नहीं करते, चारों ओरसे शोषण करते हैं। प्रकृति उन्हें अनुकूल अन्तरालके भीतर आहार देकर लपेट रखती है—बाहरके अनेक आघात और अपघात उन पर चोट नहीं पहुँचा सकते और नाना आकर्षणोंमें उनकी शक्ति विभक्त नहीं हो पड़ती।

बालकोंका शिक्षासमय भी उनके लिए इसी प्रकारकी मानसिक भ्रूणअवस्था है। इस समय वे ज्ञानके एक सजीव वेष्टनके बीच, रात दिन मनकी खुराकके भीतर ही वास करके बाहरकी सारी विभ्रान्तियोंसे दूर गुप्त रूपसे अपना समय व्यतीत करते हैं, और यही होना भी चाहिए—यह स्वाभाविक विधान है। इस समय चारों ओरकी सभी बातें उनके अनुकूल होनी चाहिए,—जिससे उनके मनका सबसे आवश्यक कार्य होता रहे, अर्थात् वे जानकर और न जानकर खाद्यशोषण करते रहें, शक्तिसंचय करते रहें और आपको परिपुष्ट करते रहें।

संसार कार्यक्षेत्र है और नाना प्रवृत्तियोंकी लीलाभूमि है। उसमें ऐसी अनुकूल अवस्थाका मिलना बहुत ही कठिन है जिससे बालक शिक्षाकालमें शक्तिलाभ और परिपूर्ण जीवनकी मूल पूँजी संग्रह कर सकें। शिक्षा समाप्त होने पर उनमें गृहस्थ होनेकी वास्तविक क्षमता उत्पन्न होजायगी। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि संसारके समस्त प्रवृत्ति-संघातोंके बीचमेंसे यथेच्छ मनुष्य होने पर गृहस्थ होनेके योग्य मनुष्यत्व प्राप्त नहीं किया जा सकता।

जमींदार बना जा सकता है, व्यवसायी बना जा सकता है परन्तु मनुष्य बनना बहुत ही कठिन है। हमारे देशमें एक समय गृहधर्म का आदर्श बहुत ही ऊँचा था, इसीलिए समाजमें तीनों वर्णोंको संसारमें प्रवेश करनेके पहले ब्रह्मचर्यपालनके द्वारा आपको तैयार करनेका उपदेश और व्यवस्था थी। यह आदर्श बहुत समयसे नीचे गिर गया है और उसके स्थान पर हमने अब तक और कोई महत् आदर्श ग्रहण नहीं किया, इसीसे हम आज क्लर्क, सरिश्तेदार, दारोगा, डिपुटी मजिस्ट्रेट बनकर ही सन्तुष्ट हैं। इससे अधिक बननेको यद्यपि हम 'बुरा' नहीं समझते तथापि 'बहुत' समझते हैं।

किन्तु इससे बहुत अधिक भी 'बहुत' नहीं है। हम यह बात केवल हिन्दुओंकी ओरसे नहीं कहते हैं—नहीं, किसी भी देशमें और किसी भी समाजमें यह बहुत नहीं है। दूसरे देशोंमें ठीक इसी प्रकारकी शिक्षाप्रणाली प्रचलित नहीं की गई, परन्तु वहाँके लोग युद्धोंमें लड़ते हैं, वाणिज्य करते हैं, टेलीग्राफके तार खटखटाते हैं, रेलगाड़ीके एंजिन चलाते हैं—यह देखकर हम भूल गये हैं;—और यह भूल ऐसी है कि किसी सभामें एकाध प्रबन्धकी आलोचना करनेसे मिट जायगी ऐसी आशा नहीं की जा सकती। इसलिए आशङ्का होती है कि आज हम 'जातीय' शिक्षापरिषत्की रचना करनेके समय अपने देश और अपने इतिहासको छोड़कर, उदाहरण खोजनेके लिए सर्वत्र घूम फिरकर कहीं और भी एक साँचेमें ढला हुआ कलका स्कूल न खोले बैठें। हम प्रकृतिका विश्वास नहीं करते, मनुष्यके प्रति भरोसा नहीं रखते, इसलिए कलके बिना हमारी गति नहीं है। हमने मनमें निश्चय कर रक्खा है कि नीतिपाठोंकी कल चलाते ही मनुष्य साधु बन जायँगे और पुस्तकें पढ़ानेका फंदा डालते ही मनुष्यका तृतीय चक्षु जो ज्ञाननेत्र है वह आप-ही-आप उघड़ पड़ेगा!

इसमें सन्देह नहीं कि प्रचलित प्रणालीके एक स्कूल खोलनेकी अपेक्षा ज्ञानदानका कोई उपयोगी आश्रम स्थापित करना बहुत ही कठिन है। किन्तु स्मरण रखिए कि इस कठिनको सहज करना ही भारतवर्षका आवश्यक कार्य होगा। क्योंकि, हमारी कल्पनामें से यह आश्रमका आदर्श अभी तक लुप्त नहीं हुआ है और साथ ही यूरोपकी नाना विद्याओंसे भी हम परिचित हो गये हैं। विद्यालाभ और ज्ञानलाभकी प्रणालीमें हमें सामञ्जस्य स्थापित करना होगा। यह भी यदि इससे न हो सका तो समझ लो कि केवल नकलकी ओर दृष्टि रखकर हम सब तरह व्यर्थ हो जायँगे—किसी कामके न रहेंगे। अधिकारलाभ करनेको जाते ही हम दूसरोंके आगे हाथ फैलाते हैं और नया गढ़नेको जाते ही हम नकल करने बैठ जाते हैं। अपनी शक्ति और अपने मनकी ओर, देशकी प्रकृति और देशके यथार्थ प्रयोजनकी ओर हम ताकते भी नहीं हैं—ताकनेका साहस भी नहीं होता। जिस शिक्षाकी कृपासे हमारी यह दशा हो रही है उसी शिक्षाको एक नया नाम देकर स्थापन कर देनेसे ही वह नये फल देने लगेगी, इस प्रकार आशा करके एक और नई निराशाके मुखमें प्रवेश करनेकी ओर अब हमारी प्रवृत्ति तो नहीं होती। यह बात हमें याद रखनी होगी कि जहाँ चन्देके रुपये मूसलधारके समान आ पड़ते हैं शिक्षाका वहीं अच्छा संग्रह होता है, ऐसा विश्वास न कर बैठना चाहिए। क्योंकि मनुष्यत्व रुपयोंसे नहीं खरीदा जा सकता। और यह भी कोई बात नहीं है कि जहाँ कमेटीके नियमोंकी धारा निरन्तर बरसती रहती है, शिक्षाकल्पलता वहीं जल्दीसे बढ़ उठती है। क्योंकि केवल नियमावली अच्छी होने पर भी वह मनुष्यके मनको खाद्य नहीं दे सकती। अनेकानेक विषयोंके पढ़ानेकी व्यवस्था करनेसे ही शिक्षा अधिक और अच्छी होने लगेगी, ऐसा समझना भी भूल है। क्योंकि मनुष्य जो बनता

है सो 'न मेधया न बहुना श्रुतेन।' जहाँ एकान्तमें तपस्या होती है, वहीं हम सीख सकते हैं जहाँ गुरुरूपसे त्याग होता है, जहाँ एकान्त अभ्यास या साधना होती है, वहीं हम शक्ति बढ़ा सकते हैं; जहाँ सम्पूर्ण भाव से दान होता है वहीं सम्पूर्ण भाव से ग्रहण भी संभव हो सकता है; जहाँ अध्यापकगण ज्ञानकी चर्चा में स्वयं प्रवृत्त रहते हैं वहीं पर छात्रगण विद्याके प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं; बाहर विश्वप्रवृत्तिका आविर्भाव जहाँ बिना रुकावटके होता है, भीतर वहीं पर मन सम्पूर्ण विकसित हो सकता है; ब्रह्मचर्यकी साधनामें जहाँ चरित्र सुस्थ और आत्मवश होता है, धर्मशिक्षा वहाँ ही सरल और स्वाभाविक होती है; और जहाँ पर केवल पुस्तक और मास्टर, सेनेट और सिंडिकेट, ईंटोंके कोठे और काठका फर्नीचर है, वहाँ हम जितने बड़े आज हो उठे हैं, उतने ही बड़े होकर कल भी बाहर होंगे।

आवरण ।

मनुष्यके पदतल (तलुवे) ऐसी खूबीसे बनाये गये हैं कि खड़े होकर पृथ्वी पर चलनेके लिए इससे अच्छी व्यवस्था और हो नहीं सकती । परन्तु जिस दिनसे जूतोंका पहनना शुरू हुआ, उस दिनसे पदतलोंको धूल और मिट्टीसे बचानेकी चेष्टाने उनका प्रयोजन ही मिट्टी कर दिया । जिस गरजसे वे बनाये गये हैं, उसे ही लोग भूल गये । इतने दिनोंतक पदतल सहज ही हमारा भार वहन करते थे, परन्तु अब पदतलोंका भार स्वयं हम ही वहन करने लगे हैं । क्योंकि इस समय यदि हमें खाली पैर, बिना जूतोंके, चलना पड़ता है तो पदतल हमारे सहायक न बनकर उलटे पदपद पर दुःखके कारण हो जाते हैं । केवल इतना ही नहीं, उनके लिए हमें सर्वदा ही सतर्क और सावधान रहना पड़ता है । क्योंकि यदि हम मनको अपने पदतलोंकी सेवामें नियुक्त न रक्खें, तो आपत्ति उठानी पड़े । यदि उनमें थोड़ीसी सर्दी लग जाय तो छींकें आने लगें और पानी लग जाय तो ज्वर चढ़ने लगे । तब लाचार होकर मोजे, स्लीपर, जूते, बूट आदि नाना उपचारोंसे हम इस उपाङ्गकी पूजा करते हैं और इसे सारे कर्मोंसे विमुक्त कर देते हैं, अर्थात पैरोंको किसी भी कामका नहीं रखते । ईश्वरने हमें खुर नहीं दिये, इसलिए मानों हम उसके प्रति यह एक प्रकारका आक्षेप करते हैं ।

विश्वजगत्, और अपनी स्वाधीन शक्तिके बीच, सुविधाओंके प्रलोभनसे हमने इसी तरह न जाने कितनी रुकावटें खड़ी कर दी हैं । इस तरह संस्कार और अभ्यासपरम्परासे हम उन कृत्रिम

आश्रयोंको सुविधा और अपनी स्वाभाविक शक्तियोंको असुविधा समझने लगे हैं। कपड़े पहन पहन कर हमने उन्हें इस पद पर पहुँचा दिया है कि कपड़े हमारे चमड़ेसे भी बड़े हो गये हैं। अब हम विधाताके बनाये हुए इस आश्चर्यमय सुन्दर अनावृत (नग्न) शरीरकी अवज्ञा या अवहेलना करने लगे हैं।

किन्तु जब हम पुराने समय पर दृष्टि डालते हैं तब मालूम होता है कि कपड़ों और जूतोंको एक अन्धेकी मूठके समान पकड़ रखना हमारे इस गरम देशमें न था। एक तो सहज ही हम बहुत कम कपड़ोंका उपयोग करते थे; और फिर बचपनमें हमारे बच्चे बहुत समय तक कपड़े जूते न पहनकर अपने नग्न शरीरके साथ नग्न जगतका संयोग बिना संकोचके बहुत अच्छी तरह किया करते थे। परन्तु इस समय हमने अँगरेजोंकी नकल करके शिशुओंके शरीर देखकर भी लज्जित होना शुरू कर दिया है। केवल विलायतसे लौटे हुए ही नहीं, शहरोंके रहनेवाले साधारण गृहस्थ भी आजकल अपने बच्चोंको किसी पाहुनेके सामने नंगा उघाड़ा देखकर संकुचित होते हैं और इस तरह बच्चोंको भी निजकी देहके सम्बन्धमें संकुचित कर डालते हैं।

ऐसा करनेसे हमारे देशके शिक्षितोंमें एक प्रकारकी बनावटी लज्जाकी सृष्टि हो रही है। जिस उमरतक शरीरके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी कुण्ठा या लज्जा न होनी चाहिए, उस उमरको अब हम पार नहीं कर सकते हैं—अब हमारे लिए मनुष्य, जन्मसे लेकर मरणतक, लज्जाका विषय बनता जाता है। यदि कुछ समय तक और भी हमारी यही दशा रही, तो एक दिन ऐसा आ जायगा कि हम चौकी या टेबिलके पायोंको भी बिना ढँका या नग्न देखकर लाल पीले होने लगेंगे!

यदि यह केवल लज्जाकी ही बात होती, तो मैं आक्षेप नहीं

करता। किन्तु इससे पृथ्वी पर दुःखकी वृद्धि होती है। हमारी लज्जाके कारण बच्चे व्यर्थ ही कष्ट पाते हैं। इस समय वे प्रकृति के ऋणी हैं, सभ्यताका ऋण लेना उन्हें पसन्द ही नहीं। परन्तु बेचारे क्या करें; रोनेके सिवा उनके पास और कोई बल नहीं। अपने पालनपोषण करनेवालोंकी लज्जा निवारण करनेके लिए और उनके गौरवको बढ़ानेके लिए उन्हें जरी और रेशमके कपड़ोंसे घिरकर वायुके करस्पर्श और प्रकाशके चुम्बनसे बंचित होना पड़ता है। इससे वे रोकर और चिल्लाकर बधिर विचारकके कानोंके समीप शिशुजीवनका अभियोग उपस्थित किया करते हैं। परन्तु बेचारे यह नहीं जानते कि पितामातामें एक्जिक्यूटिव (कारगुजार) और जुडीशल (अदालती) एकत्र हो जानेसे उनका सारा आन्दोलन और आवेदन व्यर्थ हो जाता है।

इससे पालनपोषण करनेवालोंको भी दुःख भोगना पड़ता है। क्योंकि अकाललज्जाकी सृष्टि होनेसे अनावश्यक उपद्रव बढ़ जाते हैं। जो सभ्य जन नहीं हैं केवल सरल सीधेसादे बच्चे हैं, उन पर भी निरर्थक सभ्यता लादकर धनका अपव्यय करना शुरू कर दिया जाता है। नग्नता या नंगेपनमें एक बड़ी भारी खूबी यह है कि उसमें प्रतियोगिता या बदाबदी नहीं है। किन्तु कपड़ोंमें यह बात नहीं है। उनसे इच्छाओंकी मात्रायें और आडम्बरोंके आयोजन तिल तिल करके बढ़ते ही चले जाते हैं। बच्चोंका नवनीत-कोमल, सुन्दर शरीर धनाभिमान प्रकाशित करनेका एक उपलक्ष्य बन जाता है और सभ्यताका बोझा निष्कारण अपरिमित और असह्य होता है।

इस विषयमें अब हम डाक्टरी और अर्थनीतिकी और युक्तियाँ नहीं देना चाहते। क्योंकि यह लेख हम शिक्षाके सम्बन्धमें लिख रहे हैं। मिट्टी-जल-वायु-प्रकाशके साथ पूरा पूरा सम्बन्ध न होनेसे

शरीरकी शिक्षा पूर्ण नहीं हो सकती। हमारा मुख जाड़ोंमें और गरमियोंमें सर्वदा ही खुला रहता है, इसीसे हमारे मुखका चमड़ा अन्य सारे शरीरके चमड़ेकी अपेक्षा अधिक शिक्षित है—अर्थात् वह (मुख) इस बातको अच्छी तरहसे जानता है कि बाहरके साथ अपना सामञ्जस्य बनाये रखनेके लिए किस तरह चलना चाहिए। वह अपने आप ही सम्पूर्ण है—उसे कृत्रिम आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं।

यहाँ हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि हम मेंचेस्टर के व्यापारियोंको हानि पहुंचानेके लिए इस अँगरेजी राज्यमें नग्नता का प्रचार नहीं करना चाहते हैं। हमारा मतलब यह है कि शिक्षा देनेकी एक खास अवस्था है—और वह बाल्यकाल है। उस समय शरीर और मनको परिणत या परिपक्व करनेके लिए प्रकृति देवी के साथ हमारा बाधारहित–बेरोकटोक–संयोग होना चाहिए। वह ढँकने मूँदनेका समय नहीं है—उस समय सभ्यताकी जरा भी जरूरत नहीं। किन्तु उस उमरसे ही बच्चोंके साथ सभ्यताकी लड़ाई छिड़ी देखकर बड़ा ही दुःख होता है। बच्चा कपड़े फेंक देना चाहता है; परन्तु हम उसे उनसे लदा हुआ रखना चाहते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो यह झगड़ा बच्चेके साथ नहीं, किन्तु प्रकृतिजननीके साथ छिड़ा है। प्रकृतिमें एक बहुत पुराना ज्ञान मौजूद है। जिस समय बच्चेको कोई कपड़ा पहनाया जाता है उस समय प्रकृतिका वही ज्ञान उस बच्चेके रोनेके भीतरसे प्रतिवाद करने लगता है। हम सब उस प्रकृतिजननीके ही तो पुत्र हैं।

चाहे जैसे हो, सभ्यताके साथ थोड़ेसे अलगावकी जरूरत है। बच्चोंको कमसे कम सात वर्षकी अवस्था तक तो सभ्यताके इलाकेसे जरूर ही जुदा रखना चाहिए। ये सात वर्ष हमने बहुत ही कम करके कहे हैं। इस अवस्थातक बच्चोंको न सज्जा (सज-धज)

की जरूरत है और न लज्जाकी। इस समय तक बर्बरता या जंगलीपनकी शिक्षा ही बहुत आवश्यक शिक्षा है—यह प्रत्येक बच्चेको मिलनी ही चाहिए। प्रकृति देवीको यह शिक्षा बे-रोक-टोक देने दो। इस समय भी यदि बच्चे पृथिवी माताकी गोदमें गिरकर धूल मिट्टीसे अपने शरीरको न रँगेंगे, तो उन बेचारोंको यह सौभाग्य और कब प्राप्त होगा? यदि ये हतभागे इस उमरमें भी झाड़ों पर चढ़कर फल न तोड़ सकेंगे, तो फिर सभ्यताकी लोकलज्जामें उलझकर झाड़-पेड़ों और फल-फूलोंसे जीवन भर भी हार्दिक सख्य न जोड़ सकेंगे। इस समय वायु, आकाश, मैदान, वृक्ष, पत्र, फूल आदिकी ओर उनके शरीर और मनका जो एक स्वाभाविक खिंचाव हुआ करता है—सब ही स्थानोंसे उनके पास जो निमंत्रण आया करता है, उसके बीच यदि कपड़े-लत्तोंकी, द्वार-दीवालोंकी रुकावट डाल दी जाय, तो बच्चोंका सारा उद्यम रुक कर सड़ने लगे। क्योंकि जो उत्साह खुला हुआ क्षेत्र पाकर स्वास्थ्यकर होता है, वही बद्ध होकर दूषित हो जाता है।

ज्यों ही बच्चे को कपड़े पहनाये जाते हैं, त्यों ही उसे कपड़ोंके विषयमें सावधान कर देना पड़ता है—समझा देना पड़ता है कि कपड़े मैले न होने पावें। बच्चेका भी कुछ मूल्य है या नहीं, यह बात तो हम अकसर भूल जाते हैं; परन्तु दर्जीके हिसाबको शायद ही कभी भूलते हों। यह कपड़ा फट गया, यह मैला हो गया, उस दिन इतने दाम देकर इस सुन्दर अँगरखेको बनवाया था, अभागा न जाने कहाँसे इसमें स्याहीके दाग लगा लाया,—इस तरहकी बीसों बातें कहकर बच्चेको खूब चपतें लगाई जाती हैं और उसके कान ऐंठे जाते हैं। इस तरहकी शास्ति या दंडसे उसे सिखाया जाता है कि शिशुजीवनके सारे खेलों और सारे आनन्दोंकी अपेक्षा कपड़ोंकी कितनी अधिक खातिर करनी चाहिए—खेल कूद

और आनन्दसे कपड़ोंका मूल्य कितना अधिक है। हमारी समझमें नहीं आता कि जिन कपड़ोंकी बच्चोंको कुछ भी आवश्यकता नहीं, उन कपड़ोंके लिए बेचारे इस तरह उत्तरदाता क्यों बनाये जाते हैं; और ईश्वरने जिन बेचारोंके लिए बाहरसे अनेक अबाध सुखोंका आयोजन कर रक्खा है और भीतर मनमें अव्याहत सुखोंके भोगनेका सामर्थ्य दिया है, उनके जीवनारम्भके सरल आनन्दपूर्ण क्षेत्रको न कुछ अतिशय अकिंचित्कर पोशाककी ममतासे इस तरह व्यर्थ ही विघ्नसंकुल बनानेकी क्या जरूरत है। क्या यह मनुष्य सभी जगह अपनी क्षुद्र बुद्धि और तुच्छ प्रवृत्तिका शासन फैलाकर कहीं भी स्वाभाविक सुखशान्तिके लिए स्थान न रहने देगा? यह एक बड़ी भारी जबर्दस्तीकी युक्ति है कि जो हमें अच्छा लगता है वह चाहे जिस तरह हो दूसरोंको भी अच्छा लगना चाहिए। मालूम होता है कि हमने इस जबर्दस्तीकी युक्तिसे चारों ओर केवल दुःख विस्तार करनेका ही निश्चय कर लिया है।

जो हो, प्रकृतिके द्वारा जो कुछ किया जाता है वह हमारे द्वारा किसी भी तरह नहीं हो सकता। इस लिए इस प्रकारका हट न करके कि 'मनुष्यकी सारी भलाईयाँ केवल हम बुद्धिमान् लोग ही करेंगे' हमें प्रकृतिदेवीके लिए भी थोड़ासा मार्ग छोड़ देना उचित है। प्रारंभमें ही ऐसा करनेसे अर्थात् बालकोंको प्रकृतिके स्वाधीन राज्यमें विचरण करने देनेसे सभ्यताके साथ कोई विरोध खड़ा नहीं होता और दीवाल भी पक्की हो जाती है। ऐसा न समझ लेना चाहिए कि इस प्राकृतिक शिक्षासे केवल बच्चोंको ही लाभ होता है। नहीं, इससे हमारा भी उपकार होता है। हम अपने ही हाथों से सब कुछ ढँक डालते हैं और धीरे धीरे उसीसे अपने अभ्यासको इतना विकृत बना लेते हैं कि फिर स्वाभाविकको किसी प्रकार भी सहज दृष्टिसे नहीं देख सकते। हम यदि मनुष्यके सुन्दर शरीरको

निर्मल बाल्यावस्थासे ही नग्न देखनेका अभ्यास न रक्खेंगे, तो हमारी भी वही दशा होगी जो विलायतके लोगोंकी हो गई है। उनके मनमें शरीरके सम्बन्धमें एक विकृत संस्कार जड़ पकड़ गया है और वास्तवमें वह संस्कार ही बर्बर और लज्जाके योग्य है; बच्चोंको नग्न रखना बर्बरता या लज्जाका विषय नहीं।

हम मानते हैं कि सभ्य समाजमें कपड़े-लत्तोंकी और जूते-मोजोंकी भी आवश्यकता है और इसीसे इनकी सृष्टि हुई है—किन्तु यह याद रखना चाहिए कि इन सब कृत्रिम आश्रयों या उपकरणोंको अपना स्वामी बना डालना और इनके कारण आपको कुण्ठित या संकुचित कर रखना कभी अच्छा नहीं हो सकता; इस विपरीत व्यापारसे कभी भलाई नहीं हो सकती। कमसे कम भारतवर्षका जल-वायु तो ऐसा अच्छा है कि हमें इन सब उपकरणोंके चिर-दास बननेकी कोई जरूरत ही नहीं है। पहले भी कभी हम इनके दास न थे; आवश्यकता पड़ने पर कभी काममें भी लाते थे और कभी इन्हें खोलकर भी रख देते थे। हम जानते थे कि वेश-भूषा (सज-धज) एक नैमित्तिक वस्तु है—यह कभी कभी हमारे प्रयोजनको साध देता है, इससे अधिक इसमें और कोई महत्त्व नहीं है। अर्थात् जरूरतके वक्त यह हमें शीतादिके कष्टसे बचा देता है। बस, इसका हम पर इतना ही स्वामित्व था। इसी कारण हम खुला शरीर रखनेमें लज्जित न होते थे और दूसरोंका भी खुला शरीर देखकर अप्रसन्न न होते थे। इस विषयमें विधाता के प्रसादसे यूरोपनिवासियोंकी अपेक्षा हमें विशेष सुभीता था। हमने आवश्यकतानुसार लज्जाकी रक्षा भी की है और अनावश्यक अतिलज्जाके द्वारा अपनेको भारग्रस्त होनेसे भी बचाया है।

यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि अतिलज्जा लज्जाको नष्ट कर देती है। कारण, अतिलज्जा वास्तवमें ही लज्जाजनक है। इसके सिवा

जब मनुष्य 'अति' का बन्धन बिलकुल ही छोड़ देता है, अर्थात प्रत्येक बातमें जियादती करने लगता है, तब उसे और किसी तरह का विचार नहीं रहता। यह हम मानते हैं कि हमारे देशकी स्त्रियाँ अधिक कपड़ा नहीं पहनती हैं, किन्तु वे (विलायती मेमोंके समान) जान बूझकर सचेष्ट भावसे छाती और पीठका बारह आना हिस्सा खुला रखकर पुरुषोंके सामने भी नहीं जा सकतीं। अवश्य ही हम लज्जा नहीं करते हैं; परन्तु साथ ही लज्जा पर इस तरहका आघात भी नहीं करते हैं।

इस प्रबन्धमें लज्जातत्त्वकी मीमांसा करना हमारा उद्देश्य नहीं है, इस लिए इन बातोंको जाने दीजिए। हमने अभी तक जो कुछ कहा है उसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि यद्यपि मनुष्यकी सभ्यताको कृत्रिमकी सहायता लेनी ही पड़ती है, तो भी इस ओर हमें सर्वदा ही दृष्टि रखनी चाहिए कि कहीं अभ्यासदोषसे यह 'कृत्रिम' ही हमारा स्वामी न बन बैठे और हमें अपनी गढ़ी हुई या तैयार की हुई सामग्रीकी अपेक्षा अपने मस्तकको सर्वदा ही नीचा न रखना पड़े। हमारे रुपये जब हमको ही खरीद बैठें, हमारी भाषा जब हमारे ही भावोंकी नाकमें नकेल डालकर उन्हें घुमा मारे, हमारी सज-धज जब हमारे अंगोंको ही अनावश्यक करनेके लिए जोर लगावे, और हमारे 'नित्य' जब 'नैमित्तिकों' के सामने अपराधियोंके समान कुंठित हो रहें, तब इस सभ्यताके सत्यानाशी अंकुशको जरा भी न मानकर हमें यह बात कहनी ही होगी कि "यह ठीक नहीं हो रहा है। भारतवासियोंके लिए खुला शरीर जरा भी लज्जाका कारण नहीं। जिन सभ्यजनोंके नेत्रोंमें यह खटकता है उनके नेत्र ही स्वच्छ नहीं हैं—उनमें विकार हो गया है।"

इस समय कपड़ों, जूतों और मोजोंका जैसा सम्बन्ध शरीरके

साथ बढ़ गया है, उसी तरह पुस्तकोंका सम्बन्ध हमारे मनके साथ बढ़ता जा रहा है। अब हम लोग इस बातको भूलते जा रहे हैं कि पुस्तक पढ़ना शिक्षाका केवल एक सुविधाजनक सहारा भर है और पुस्तक पढ़नेको ही हम शिक्षा या शिक्षाका एक मात्र उपाय समझने लगे हैं। इस विषयमें हमारे इस संस्कारको हटाना बहुत ही कठिन हो गया है।

यह ठीक है कि आजकल शिक्षासम्बन्धी जो उल्टी गंगा बह रही है उसके कारण हमें बचपनहीसे पुस्तकें रटनी पड़ती हैं, परन्तु वास्तवमें पुस्तकोंमेंसे ज्ञानसञ्चय करना हमारे मनका स्वाभाविक धर्म नहीं। पदार्थको प्रत्यक्ष देख-सुनकर, हिला-डुलाकर, परीक्षा करके ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और यही हमारे स्वभावका विधान है। दूसरोंके जाने हुए या परीक्षा किये हुए ज्ञानको भी—यदि हम उनके मुँहसे सुनते हैं (न कि पुस्तकोंमें-से पढ़ते हैं) तो—हमारा मन सहज ही स्वीकार कर लेता है। क्योंकि मुँहकी बात केवल 'बात' ही नहीं है, वह 'मुँहकी बात' है। उसके साथ प्राण है, मुख और नेत्रोंकी भावभंगी है, कण्ठका तीव्र मन्द स्वर है और हाथोंके इशारे हैं। इन सबके द्वारा जो भाषा कानोंसे सुनी जाती है वह सङ्गीत और आकारमें परिणत होकर नेत्र और कान दोनोंकी ज्ञेय या ग्रहणसामग्री बन जाती है। केवल यही नहीं, यदि हमको मालूम हो जाय कि कोई मनुष्य अपने मनकी सामग्री हमें प्रसन्न और ताजा मनसे दे रहा है—वह सिर्फ एक पुस्तक ही नहीं पढ़ता जा रहा है—तो मनके साथ मन का एक प्रकारसे प्रत्यक्ष मिलन हो जाता है और इससे ज्ञानके बीच रसका संचार होने लगता है।

किन्तु दुर्भाग्यवश, हमारे मास्टर पुस्तक पढ़नेके केवल एक उपलक्ष्य हैं और हम पुस्तक पढ़नेके केवल एक उपसर्ग। अर्थात्

हम जो पुस्तकें पढ़ते हैं उनमें मास्टर केवल थोड़ीसी सहायता देते हैं और पुस्तक पढ़नेमें हमारा अन्तःकरण केवल उतना ही काम करता है जितना उपसर्ग किसी शब्दके साथ मिलकर। इसका फल यह हुआ है कि जिस तरह हमारा शरीर कृत्रिम पदार्थोंकी ओटमें पड़कर पृथ्वीके साक्षात् संयोगसे बंचित हो बैठा है, और वंचित होकर इतना अभ्यस्त हो गया है कि उस संयोगको हम आज क्लेशकर और लज्जाकर समझने लगे हैं, उसी तरह हमारा मन, जगतके साथ प्रत्यक्ष संयोग होनेसे जो स्वाद आता है उसकी शक्तिको एक तरह से खो बैठा है। अर्थात् हमें सब पदार्थोंको पुस्तकोंके द्वारा जाननेका एक अतिशय अस्वाभाविक अभ्यास पड़ गया है। जो पदार्थ हमारे बिलकुल ही पास है, उसे भी यदि हम जानना चाहते हैं तो पुस्तकोंके मुँहकी ओर ताकते हैं। एक नवाबसाहबके विषयमें सुनते हैं कि वे एक बार जूता पहना देनेके लिए अपने नौकरके आनेकी राह देखने लगे और इतनेमें दुश्मनके हाथों कैद हो गये! पुस्तककी विद्याके फेरमें पड़कर हमारी मानसिक नवाबी भी इसी तरह बहुत जियादा बढ़ गई है। तुच्छसे तुच्छ विषयके लिए भी यदि पुस्तक नहीं होती है, तो हमारे मनको कोई आश्रय नहीं मिलता। और बड़े भारी आश्चर्यकी बात तो यह है कि इस विकृत संस्कारके दोषसे हममें जो यह नवाबी आ गई है, उसे हम लज्जाकर नहीं किन्तु उलटी गौरवजनक समझते हैं—पुस्तकोंके द्वारा जानी हुई बातोंसे ही हम आपको पण्डित-शिरोमणि समझकर गर्व करते हैं। इसका अर्थ यह है कि हम जगतको मनके द्वारा नहीं पुस्तकोंके द्वारा टटोलते हैं।

इस बातको हम मानते हैं कि मनुष्यके ज्ञान और भावोंको सञ्चित कर रखनेके लिए पुस्तक जैसी सुभीतेकी चीज और कोई नहीं है। पुस्तकोंकी कृपासे ही आज हम मनुष्यजातिके हजारों वर्ष

पहलेके ज्ञान और भावोंको हृदयस्थ कर सकते हैं। किन्तु यदि हम इस सुभीतेके द्वारा अपने मनकी स्वाभाविक शक्तिको बिलकुल ही ढँक डालें, तो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हमारी बुद्धि 'बाबू' बन जायगी। इस 'बाबू' नामक जीवसे पाठक अवश्य ही परिचित होंगे। जो जीव नौकर-चाकर, माल-असबाब, चीज-वस्तुके सुभीते के अधीन रहता है उसे 'बाबू' कहते हैं। बाबू लोग यह नहीं समझते कि अपनी शक्ति या चेष्टाका प्रयोग करनेमें जो कष्ट और कठिनाई भोगनी पड़ती है उसीसे ही हमें वास्तविक सुख होता है और उसीसे, हम जो कुछ प्राप्त करते हैं वह, कीमती हो जाता है। पुस्तकपाठी बाबूपनेमें भी, वह आनन्द और वह सार्थकता नहीं रहती जो ज्ञानको स्वयं अपनी चेष्टासे प्राप्त करनेमें या कठिन परिश्रमसे सत्यकी खोज करनेमें है। पुस्तकों पर ही सारा दारोमदार रखनेसे धीरे धीरे मनकी स्वाधीन शक्ति नष्ट हो जाती है और उस शक्तिके संचालन करनेमें जो सुख है वह भी नहीं रहता, बल्कि यदि कभी उसको संचालन करनेकी आवश्यकता होती है तो उल्टा कष्ट होता है।

इस तरह जब हमारा मन बचपनसे ही पुस्तक पढ़नेके आवरणसे ढँक जाता है तब हम मनुष्योंके साथ सहज भावसे मिलने जुलनेकी शक्तिको खो बैठते हैं। जो दशा हमारे कपड़ोंसे ढँके हुए शरीरकी हुई है—वह उघड़ा होनेमें संकोच करने लगा है, वही दशा हमारे पुस्तकावृत मनकी भी हो गई है—वह भी बाहर नहीं आना चाहता। इस बातको हम प्रतिदिन ही देखते हैं कि आजकल के शिक्षितोंके लिए सर्व साधरणका सहज भावसे आदर सत्कार करना, उनके साथ आत्मभावसे मिलजुलकर बातचीत करना दिन-पर-दिन कठिन होता जाता है। वे पुस्तकके लोगोंको पहचाते हैं परन्तु पृथिवीके लोगोंको नहीं पहचानते;—उनके लिए पुस्तकके

लोग तो मनोहर हैं परन्तु पृथिवीके लोग श्रांतिकर हैं। वे बड़ी बड़ी सभाओंमें व्याख्यान दे सकते हैं परन्तु सर्वसाधारणके साथ बातचीत नहीं कर सकते। बड़ी बड़ी पुस्तकोंकी आलोचना तो कर सकते हैं परन्तु उनके मुँहसे सहज बोलचाल—साधारण बातचीत-भी अच्छी तरह बाहर नहीं निकलना चाहती। इन सब बातोंसे कहना पड़ता है कि दुर्भाग्यवश ये लोग पण्डित तो हो गये हैं किन्तु सच्चे मनुष्यत्वको खो बैठे हैं। यदि मनुष्योंके साथ मनुष्य-भावसे हमारी गति-विधि या मेलजोल होता रहे, तो घरद्वारकी वार्ता, सुख-दुःखकी जानकारी, बालबच्चोंकी ख़बर, प्रतिदिन की आलोचना आदि सब बातें हमारे लिए बहुत ही सहज और सुखकर मालूम हों। परन्तु हमारी दशा इससे उलटी है। हमारे लिए ये सब बातें कठिन और कष्टकर हैं। पुस्तकोंके मनुष्य गढ़ी-गढ़ाई बातें ही बोल सकते हैं और इसलिए वे जिन सब बातोंमें हँसते हैं, वे सचमुच ही हास्यरसात्मक होती हैं और जिन बातोंमें रोते हैं, वे अतिशय करुण होती हैं। किन्तु जो वास्तविक मनुष्य हैं वे रक्तमांससे बनेहुए प्रत्यक्षगोचर मनुष्य हैं और इसीलिए उनकी बातें, उनका हँसना-रोना पहले नम्बरका नहीं होता। और यह ठीक भी है। वास्तवमें उनका, वे स्वभावतः जो हैं उसकी अपेक्षा अधिक होनेका आयोजन न करना ही अच्छा है। मनुष्य यदि पुस्तक बननेकी चेष्टा करेगा, तो इससे मनुष्यका स्वाद नष्ट हो जायगा—उसमें मनुष्यत्व न रहेगा।

चाणक्य पण्डित कह गये हैं कि जो विद्याविहीन हैं वे "सभामध्ये न शोभन्ते" अर्थात् सभाके बीच शोभा नहीं पाते। किन्तु सभा तो सदा नहीं रहती—समय पूरा हो जाने पर सभापतिको धन्यवाद देकर उसे तो विसर्जन करना ही पड़ता है। कठिनाई यह है कि हमारे देशके आजकलके विद्वान् सभाके बाहर

"न शोभन्ते" शोभा नहीं देते।—वे पुस्तक पढ़नेमें मनुष्य हैं, इसी से वास्तविक मनुष्योंमें उनकी कोई शोभा प्रतिष्ठा नहीं।

इस प्रकारकी अवस्थाका स्वाभाविक परिणाम निरानंद होता है, अर्थात् जब स्वाधीन मनुष्य पुस्तकका मनुष्य बन जाता है, तब उसके स्वाभाविक आनन्दका द्वार बन्द हो जाता है।

इस समय यूरोपके साहित्यमें और समाजमें एक विलक्षण प्रकारकी व्याधिने दर्शन दिये हैं। उस देशवाले इस व्याधिको World-weariness कहते हैं। इसकी कृपासे स्नायु विकल हो गये हैं और जीवनका स्वाद चला गया है। पर स्वाद तो होना ही चाहिए, इससे लोग नई नई उत्तेजनाओंकी रचना करके आपको भुलाने या फुसलानेकी चेष्टामें लग रहे हैं। कुछ समझमें ही नहीं आता कि यह असुख और विकलता क्यों है—इसका कारण क्या है? स्त्रियों और पुरुषों दोनोंहीको इस अवसाद या थकावटने घेर लिया है।

स्वभावसे क्रमशः बहुत दूर चला जाना—अतिशय अस्वाभाविक या अप्राकृतिक प्रवृत्ति करने लगना ही इसका कारण है। कृत्रिम साधन या सुभीते इस तरह बढ़ाये जा रहे हैं—उनका जोर इतना बढ़ गया है कि उन्होंने जगतके जीवको एक अजीब तरहका प्राणी बना दिया है। इन जगज्जीवों या मनुष्योंका मन तो पुस्तकोंसे ढँक गया है और शरीर कपड़े लत्तों तथा और और चीजों के भीतर छुप गया है। इस तरह जीवात्माके सारे द्वार और खिड़कियाँ बन्द कर दी गई हैं—स्वच्छ वायु और स्वाधीन प्रकाशको आनेके लिए उसमें कोई मार्ग ही नहीं है। जो सहज हैं, नित्य हैं और मूल्यहीन होनेके कारण ही सबसे अधिक मूल्यवान् हैं, उन प्रकृत वस्तुओंके साथ न तो मिलना जुलना रहा और न प्रत्यक्ष परिचय रहा, इससे उनके ग्रहण करनेकी शक्ति ही नष्ट हो

गई है। उनके स्थानमें जो चीजें उत्तेजनाकी नई नई ताड़नाओंसे उत्पन्न होकर कुछ दिन फेशनकी भँवरमें पड़कर गँदली हो जाती हैं और इसके बाद ही अनादर और घृणाके किनारे एकत्रित होकर समाज-वायुको दूषित करती हैं, वे फिर फिर कर लाख लाखगुणी मेहनत कराती हैं और उसमें सारे समाजको जोतकर उसे कोल्हूके बैलके समान घुमाघुमाकर मार रही हैं। असुख और विकलताका यही कारण है।

एक पुस्तकसे और एक पुस्तक उत्पन्न हो रही है; एक काव्य-ग्रन्थसे और एक काव्यग्रन्थका जन्म हो रहा है; एकका मत अनेक मुखोंका आश्रय लेकर हजारों लोगोंका मत बन रहा है। तात्पर्य यह कि नकलसे नकलका प्रवाह चल रहा है। इस तरह मनुष्यके चारें ओर यह पुस्तकों और वचनोंका जंगल सघन होता जाता है और प्राकृतिक जगतसे उसका सम्बन्ध धीरे धीरे विच्छिन्न होता जाता है। अर्थात् इस समयके मनुष्योंके मनमें जितने भाव उत्पन्न होते हैं, उनमेंसे अधिकांश भाव केवल पुस्तकोंके सृष्ट किये हुए होते हैं। इसी कारण वे वास्तविकतारहित होते हैं और मनुष्यके सिर पर भूतके समान चढ़कर उसके मानसिक स्वास्थ्यको बिगाड़ देते हैं, उसे अत्युक्ति या आतिशय्यकी ओर ले जाते हैं और धीरे धीरे सब ही एक ही लकीर पर चलकर सत्यको मिथ्या बना डालते हैं। उदाहरणके लिए 'पेट्रियटिज्म' (स्वदेशानुराग) को ही ले लीजिए। इसके भीतर जितना सत्य था, उसे लोगोंने स्थिर न रहने दिया, उस पर जिसके जीमें आया उसीने रोज रेंज उछल-कूद मचाकर उसकी रुई धुन डाली और अन्तमें एक मोटा ताजा झूठ बनाकर खड़ा कर दिया! अब इस बनाकर तैयारकी हुई बातको सत्य बनानेके लिए न जाने कितने बनावटी उपाय किये जाते हैं; न जाने कितनी झूठी उत्तेजनायें दिलाई जाती हैं, न जाने

कितने अनुचित दण्ड, न जाने कितने गढ़कर तैयार किये हुए विद्वेष, न जाने कितनी कूट युक्तियाँ और न जाने कितने धर्मके ढोंग रचे जाते हैं। इन सब स्वभावभ्रष्ट बातोंके धुआँधारमें मनुष्यको मार्ग नहीं सूझता—वह सरल और उदार, प्रशान्त और सुन्दर मार्गसे बराबर दूर हटता जाता है। पर किया क्या जाय, स्वभावभ्रष्ट या बनाई हुई बातका मोह छोड़ना क्या कोई सहज काम है! यदि कोई स्थूल चीज हो, तो वह हाथोंसे पकड़कर और पृथ्वी पर पटककर नष्ट की जा सकती है; परन्तु 'बात' या वचन के शरीर पर तो छुरी भी नहीं चलती! इसी लिए मानवसमाजमें 'बात' के कारण जितना रक्तपात हुआ है, उतना राज्य और सम्पत्ति आदिके कारण नहीं हुआ!

समाजकी आदिम सरल अवस्थामें देखा जाता है कि मनुष्य जो जानता है उसे मानता भी है। उस पर उसकी अटल निष्ठा होती है और इसी लिए वह उसके लिए सहज ही स्वार्थत्याग करना या कष्ट सहना स्वीकार कर लेता है। इसके कई कारण हैं। प्रधान कारण यह है कि आदिम अवस्थामें मनुष्यके हृदय और मन खुले हुए रहते हैं--तरह तरहके मतों या सिद्धान्तोंका परदा उन पर पड़ा हुआ नहीं रहता, अतएव उसके मनमें जितने सत्यको ग्रहण करनेका अधिकार या शक्ति है, उतनेको ही वह ग्रहण करता है और मनने जिसे सत्यरूपमें ग्रहण कर लिया—उस पर पूरा पूरा विश्वास जमा लिया—उसके लिए हृदय अनायास ही अनेक कष्ट सहन कर सकता है; यह उसके लिए बिलकुल मामूली बात है।

पर जब सभ्यताकी जटिल या पेचीदा अवस्थाकी ओर नजर दौड़ाई जाती है, तब मालूम होता है कि इस अवस्थामें मनुष्यका मन साफ नहीं है; उस पर तरह तरहके मतोंकी सैकड़ों तहें जम गई हैं। कोई चर्चका मत है पर चर्चा का मत नहीं

है; कोई सभाका मत है; पर घरका मत नहीं है; कोई समूह या पंचायतका मत है पर अन्तरंगका मत नहीं है; कोई मत आँखोंमेंसे आँसुओंको तो बाहर कर देता है पर जेबमेंसे रुपयोंको बाहर नहीं होने देता; कोई मत रुपये भी बाहर कर देता है और काम भी जारी कर देता है पर हृदयमें स्थान नहीं पाता—उसकी प्रतिष्ठा फेशनकी नीव पर होती है। जब मतों की ये तरह तरहकी तहें बीचमें आपड़ती हैं, तब मनुष्यका मन सत्यमतको अटल सत्यके रूपमें ग्रहण नहीं कर सकता। यही कारण है, जो उसका आचरण सर्वत्र सर्वतोभावसे सत्य नहीं होता। जब वह सरलतासे अपनी शक्ति और प्रकृतिके अनुकूल, किसी मार्गके निश्चित करनेका अवकाश नहीं पाता है तब चक्करमें पड़ जाता है और बारबार दूसरोंकी ही बातों या मतोंका पाठ किया करता है। किन्तु अन्तमें जब कामका समय आता है—विश्वासको कार्यमें परिणत करनेका अवसर आता है, तब उसका प्रकृतिके साथ विरोध खड़ा हो जाता है; अर्थात् वह कहता मानता कुछ है और करने लगता कुछ और है। यदि उसके मन पर अनेक मतोंकी तहें न जमी होतीं, यदि वह अपने स्वभावको आप ही पाता—पुस्तकों या दूसरोंके वचनों द्वारा नहीं, तो उस स्वभावके भीतरसे जो कुछ पाता, वह छोटी बड़ी चाहे जैसी होती, पर होती शुद्ध वस्तु (खालिस चीज)। यह चीज उसे सम्पूर्ण बल देती, सम्पूर्ण आश्रय देती और उसे सर्वतोभावसे काममें लगाये बिना न रह सकती। परन्तु इस समय उसे बड़े भारी गड़बड़ाध्यायमें पड़ जाना पडता है। पुस्तकोंका मत, वचनोंका मत, सभाओंका मत, पंचायतियोंका मत; इस तरह न जाने कितने मतोंका बोझा लादकर उसे स्थिर लक्ष्यसे भ्रष्ट हो जाना पड़ता है और केवल बड़े बड़े वचनोंका पाठ करते हुए भटकना पड़ता है और मजा यह

कि इस पाठ करने और भटकते फिरनेको वह हितकारी कार्य समझता है। इनके लिए वह तनख्वाह पाता है, उन वचनोंको बेचकर धन कमाता है, उसके उक्त वचनोंसे किसीने जरा भी इधर उधर कहा कि उसका मिजाज बिगड़ जाता है, और तब वह तत्काल ही अन्य जातिको हेय और अपने सम्प्रदायको श्रद्धेय सिद्ध करने लगता है। समाजकी जटिल अवस्थामें मनुष्यके मन और हृदयकी ऐसी ही हालत हो जाती है।

मनुष्यके मनके चारों ओर पुस्तकोंका एक सघन बन दूर तक फैल गया है। इसकी मस्त गन्धने हमें मतवाला बना दिया है। यह गन्ध हमें एक डालीसे दूसरी और दूसरीसे तीसरी पर भटका भटका कर मारती तो है; परन्तु वास्तविक आनन्द और गहरी तृप्ति नहीं देती। ऊपरसे नाना प्रकारके उपद्रव बढ़ाती तथा मनोविकार उत्पन्न करती रहती है, सो जुदा ही।

जो वस्तु सहज और स्वाभाविक होती है, उसमें यह खूबी रहती है कि उसका स्वाद कभी पुराना नहीं होता—उसकी सरलता उसे सदा ही नया बनाये रखती है। वास्तविक स्वभावकी बातको मनुष्यने आज तक जितनी बार कहा है, उतनी ही बार वह नई मालूम हुई है। पृथ्वी पर इस तरहकी स्वाभाविक बातें कहनेवाले दो तीन महाकाव्य हैं, जो हजारों वर्ष बीत जाने पर भी पुराने या फीके नहीं पड़े। निर्मल जलकी तरह उनसे हमारी प्यास बुझ जाती है और एक अपूर्व तृप्ति भी मिलती है। मदिराकी तरह उत्तेजनाके शिखर पर चढ़ाकर सूखे अवसाद या खेदकी तलीमें पटकनेका गुण उनमें बिलकुल नहीं है। यह सहज स्वाभाविक वस्तुकी बात है। किन्तु सहजसे ज्यों ही कुछ दूर पड़े कि उत्तेजना और अवसादके बीचमें धान कूटनेकी ढेकी बन जाना पड़ता है। उपकरणों और आडम्बरोंसे सजी-धजी अति सभ्यताकी यही तो

बड़ी भारी व्याधि है।

इस जंगलके भीतर रास्ता खोजकर, इस ढेरकी ढेर पुस्तकों और वचनोंके आवरणको जुदाकर, यदि समाजके भीतर और मनुष्यके मनके भीतर स्वभावका पवन और प्रकाश पहुँचाना आवश्यक हो, तो यह यों ही न पहुँच जायगा; इसके लिए या तो किसी महापुरुषको जन्म लेना पड़ेगा या किसी बड़े भारी विप्लव की आवश्यकता होगी। अत्यन्त सहज सत्यको और अत्यन्त सहज बातको भी शायद रक्तसमुद्र पार करके आना होगा। जो आकाश के समान व्यापक और वायुके समान मूल्यहीन है, उसके क्रय करनेमें भी शायद बहुमूल्य प्राणोंको देना होगा।

यूरोपके मनोराज्यमें अकसर बीच बीचमें जो भूकम्प और अग्न्युत्पादकी अशान्ति दिखलाई देती है, उसका कारण यही है कि वहाँ स्वभावके साथ जीवनका या बहिःप्रकृतिके साथ अन्तःप्रकृतिका बड़ा भारी असामञ्जस्य हो गया है। अर्थात् वहाँका ज्ञान एक ओर जा रहा है और चरित्र दूसरी ओर।

यूरोपकी इस विकृतिने हमारे यहाँ भी दर्शन दिये हैं। किन्तु इसे हमने केवल अनुकरणके द्वारा या छूतके द्वारा प्राप्त किया है—यह हमारे देशकी खास चीज नहीं है। हमने जिस दिन बचपनसे ही विलायती पुस्तकोंका रटना शुरू किया, उसी दिनसे हमारे यहाँ इसका प्रारंभ हुआ है। हम जिन सब विदेशी बातोंको सदा ही निस्सन्देह होकर परम श्रद्धाके साथ मानते और बर्तावमें लाते आ रहे हैं, हमें चाहिए था कि उनमेंसे प्रत्येकको अविश्वासके साथ सत्यकी कसौटी पर घिसके जाँच कर लेते। क्योंकि उनका तीन चतुर्थांश भाग तो ऐसा है जो केवल पुस्तकोंकी सृष्टि है—एकसे दूसरी और दूसरीसे तीसरी पुस्तकने उसे सत्य बनाया है। पहले उसे दस आदमी एक दूसरे का अनुकरण करके सत्य कहते आते थे, धीरे

धीरे और भी दसआदमियोंने उसे अटल सत्यमें परिणत कर दिया और अन्तमें वह पुस्तकोंमें लिख दिया गया। पर इस प्रकारकी जाँच करना हमें पसन्द नहीं। कभी इच्छा भी नहीं होती। बल्कि अब तो हम उस पुस्तकोंके सत्यको कंठ करके इस तरह व्यवहारमें लाने लगे हैं कि मानों उसके आविष्कारक हम ही हैं—मानों हम सिद्ध करना चाहते हैं कि वह विदेशी स्कूलमास्टरोंके मुँहके शब्दोंकी केवल जड़ प्रतिध्वनि ही नहीं है।

जो लोग नये पाठको रटते हैं, उनका उत्साह स्वभावसे ही कुछ अधिक हुआ करता है। सीखा हुआ तोता जितने ऊँचे स्वरमें बोलता है, उसके सिखानेवालेका गला उतना ऊँचा नहीं हुआ करता। सुनते हैं कि जिन जातियोंमें विलायती सभ्यताका प्रवेश पहले पहल होता है, वे इस विलायती मद्यसे इतनी अधिक मतवाली हो जाती हैं कि उनके लिए जमीन छोड़ना मुश्किल हो जाता है—परन्तु जिन जातियोंकी नकल करके ये जातियाँ मद्य-पान करती हैं, वे स्वयं इतनी कर्त्तव्यविमूढ़ और मतवाली नहीं देखी जाती। इसी तरह देखते हैं कि जिन बातोंके मोहसे स्वयं उन बातोंके सृष्टिकर्ता मोहित नहीं होते हैं--अपने विश्वासमें बहुत कुछ अचल बने रहते हैं, उन्हींका मोह हमें एकदम जमीन पर सुला देता है! अभी थोड़े ही दिन हुए, विलायतमें एक सभा हुई थी। उसमें एकके बाद एक इस तरह कई भारतवासियोंने उठकर कहा कि भारतवर्षमें स्त्री-शिक्षाका अभाव है। इस अभावकी पूर्तिके लिए क्या करना चाहिए, इसके सम्बन्धमें वे बहुतसी और अतिशय पुरानी विलायती बातोंका तोतेके माफिक पाठ कर गये। अन्तमें एक अँगरेज सज्जनने कहा—"इस विषयमें मुझे बहुत सन्देह है कि भारतवर्षकी स्त्रियोंको अँगरेजी कायदेसे सिखलाना ही सच्ची शिक्षा है और यह शिक्षा ही

उनके लिए एकमात्र कल्याणकारिणी है।" यहाँ हम इस विषयमें तो कुछ कहना नहीं चाहते कि उक्त दो प्रकारके कथनोंमें कौनसा सच है और कौनसा झूठ; किन्तु यह बतला देना चाहते हैं कि हम लोग विलायतके प्रचलित रिवाजों और मतोंको जो गन्धमादन पर्वतके समान नीचेसे ऊपर तक उखाड़कर लेआनेके लिए तत्पर हो जाते हैं और इस बातका कभी विचार भी नहीं करते हैं कि ऐसा करना योग्य है या नहीं, सो इसका कारण यह है कि इन सब बातोंको हमने बचपनसे ही पुस्तकोंके द्वारा सीखा है और हमें जो कुछ शिक्षा मिली है वह सब पुस्तकोंकी शिक्षा है। वह उधार ली हुई चीज है, स्वयं अपनी कमाईकी नहीं।

हमारे देशमें भी शिक्षित लोग पुस्तकों और वचनोंके विवरमें घुस बैठे हैं, इस लिए उनपर भी निरानन्दकी छाया दिखलाई दे रही है। इन विवरवासियोंमें न तो सहृदयता है, न मिलना जुलना है और न साहजिक हँसी खेलकी बातें हैं। इसके दो कारण बतलाये जाते हैं—एक तो यह कि जीवनके निर्वाहका बोझा बहुत बढ़ गया है, इसलिए इनमें इतनी अवसन्नता दिखलाई देती है और दूसरा यह कि सर्व प्रकार सामाजिकसम्बन्धविहीन और ममताशून्य राजशक्तिका कोड़ा शिक्षितोंकी पीठ पर हमेशा ही पड़ा करता है इसलिए इन पर इतनी उदासी छाई रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षितोंकी निरानन्दताके ये भी कारण हैं, परंतु इनके साथ ही उनके अत्यन्त कृत्रिम अप्राकृतिक लिखने-पढ़नेकी ताड़ना भी कोई छोटा मोटा कारण नहीं है—यह भी एक जबर्दस्त कारण है। बिलकुलही बचपनसे पढ़ने-लिखनेका पीसना शुरू कर दिया जाताहै। इस ज्ञानलाभके साथ मनका योग या सम्बन्ध बहुत ही कम रहता है और यह ज्ञान आनन्दके लिए प्राप्त भी नहीं किया जाता—यह मुख्यतः प्राणरक्षा या पेटके लिए और गौणरूपसे

मानके लिए संग्रह किया जाता है। ऐसी दशामें इन ज्ञानियोंमें सहृदयता और साहजिक हँसी खुशीकी बातें कहाँसे आवें ?

जिस ज्ञानको हम मन लगाकर अच्छी तरह उपार्जन करते हैं, वह हमारे रक्तके साथ मिल जाता है और जिसे पुस्तकें रट करके प्राप्त करते हैं, वह बाहरसे भारी हो हमें सबसे जुदा कर देता है। इस बोझल ज्ञानको हम किसी तरह भूल नहीं सकते, इस लिए इससे हमारा अहंकार बढ़ जाता है और इस अहंकारमें जो थोड़ा-सा सुख है वही हमारा एक मात्र भरोसा है। हमें पुस्तकोंके ज्ञान से यदि कुछ आनन्द मिलता है, तो वह यही है। यदि हम ज्ञानके स्वाभाविक आनन्दको प्राप्त करते, तो हमारे लाखों शिक्षितोंमें और कुछ नहीं तो दसबीस मनुष्य अवश्य ही ऐसे दिखलाई देते जिन्हों-ने ज्ञानचर्चाके लिए अपने सारे स्वार्थोंको संकुचित कर लिया है। हम देखते हैं कि लोग इधर तो सायन्सकी परीक्षामें प्रतिष्ठाके साथ उत्तीर्ण होते हैं और उधर डिपुटी मजिस्ट्रेट बनकर अपनी सारी विद्याको आईन और अदालतकी गहरी निरर्थकतामें सदाके लिए विसर्जन कर देने के लिए तैयार हो जाते हैं। बहुतसे युवक बड़ी बड़ी डिगरियाँ केवल कन्याओंके हतभागे पिताओंको ऋणकी गहरी कीचड़में डुबा मारनेके लिए प्राप्त करते हैं। मानों अपने जीवनमें वे इससे अधिक स्थायी कीर्ति और कुछ भी लाभ नहीं कर सकते ! देशमें इस तरहके शिक्षित कहलानेवाले वकील, बैरिस्टर, जज, क्लर्क आदि तो ढेरके ढेर हैं; परंतु ज्ञानतपस्वी कहाँ हैं ? उनके तो दर्शन ही नहीं होते।

बातों ही बातोंमें बात बहुत बढ़ गई। शिक्षाके विषयमें हमारा जो कुछ वक्तव्य है उसका सार यह है—बालकोंके मनमें इस प्रकारका अन्ध संस्कार जमने ही न देना चाहिए कि पुस्तकें पढ़ने को ही सीखना कहते हैं। यह बात उन्हें पद पद पर जतलाते

रहना चाहिए कि पुस्तकोंमें जो कुछ ज्ञान संचित है वह प्रकृतिके अक्षय भाण्डारमेंसे ही हरण किया गया है। अर्थात् मनुष्य, प्रकृतिके प्रत्यक्ष परिचयसे जो कुछ जानता है, उसे ही पुस्तकोंमें लिख जाता है। इस समय, पुस्तकोंका उपद्रव बहुत ही अधिक बढ़ गया है, इसलिए इसे बहुत ही अच्छी तरह समझा देनेकी भी जरूरत है। अति प्राचीन कालमें लिपिका प्रचार हो जाने पर भी तपोवनोंमें पुस्तकोंका व्यवहार न हुआ था। उस समय गुरु मौखिक (जबानी) शिक्षा देते थे और शिष्य उस शिक्षाको नोट-बुक या पाकेट-बुकमें नहीं, किन्तु मनमें लिख लिया करते थे। इस तरह एक दीपशिखासे दूसरी और दूसरीसे तीसरी दीपशिखाके जलनेका क्रम जारी रहता था। यद्यपि इस समय ठीक वैसाका वैसा नहीं हो सकता है, तो भी जहाँ तक बने विद्यार्थियोंको पुस्तकोंके आक्रमणसे बचाये रखना चाहिए। बन सके तो छात्रोंको दूसरोंकी रचना पढ़नेको दी ही न जाय—वे गुरुके पास जो कुछ सीखें, उसीकी उनसे रचना कराई जाय। अर्थात् जिन बातोंको उन्होंने भली भांति हृदयस्थ कर लिया हो, उन्हींको उनकी भाषामें लिपिबद्ध कराया जाय—बस, यही रचना उन्हें पढ़नेके लिए दी जाय। ऐसा होनेसे यह बात उनके मनमें भी कभी न आयगी कि ग्रन्थ आकाशसे पड़े हुए वेदवाक्य हैं। वे समझने लगेंगे कि जिस तरह हमने अपने विचार लिपिबद्ध कर लिये हैं, उसी तरह प्राचीन कालके विद्वान भी अपने विचारोंको लिख गये हैं—ग्रन्थ ईश्वरके बनाये हुए नहीं हैं। "भारतवर्षके मूलनिवासी अनार्य लोग हैं। आर्य लोग यहाँ मध्य एशियासे आये हैं।" "ईसाके जन्मके दो हजार वर्ष पहले वेदोंकी रचना हुई थी।" ये सब बातें हमने पुस्तकोंसे सीखी हैं। पुस्तकोंके अक्षर काटाकूटीसे रहित निर्विकार होते हैं। वे बचपनमें हम लोगों पर एक प्रकारके

सम्मोहन मंत्रका प्रयोग करते हैं और इसी लिए हम लोगोंके समीप उक्त सब बातें देववाणीके समान सर्वथा विश्वासयोग्य बन जाती हैं। बच्चोंको पहलेहीसे यह समझा देना चाहिए कि, ये सब आनुमानिक बातें हैं और थोड़ीसी युक्तियों पर इन सबका दारोमदार है। यदि बन सके, तो इन सब युक्तियोंके मूल उपकरण भी छात्रोंके आगे रखकर उनकी खुदकी अनुमानशक्तिको उत्तेजित करना चाहिए। अर्थात् उन्हें इस योग्य बना देना चाहिए कि वे स्वयं भी इस तरहके नये नये अनुमान कर सकें। यदि वे पहलेही से अपने मनमें धीरे धीरे थोड़ा थोड़ा इस बातका अनुभव करते रहेंगे कि पुस्तकें किस तरह और कैसे कैसे अनुमान प्रमाणोंसे तैयार की जाती हैं, तो अवश्य ही वे पुस्तकोंका यथार्थ फल पालेंगे और उनके अन्ध शासनसे अपना छुटकारा करा सकेंगे। साथ ही अपने स्वाधीन उद्यमके द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेकी जो उनकी स्वाभाविक मानसिक शक्ति है वह, गर्दनके ऊपर बाहरसे बोझेके समान लादी हुई विद्याके द्वारा आच्छन्न और मूर्छित न होने पायेगी—पुस्तकोंके ऊपर उनके मनका स्वामित्व पूरा पूरा बना रहेगा। बालक थोड़ा बहुत जो कुछ सीखें, यदि सीखते समय उसका प्रयोग करना भी सीख लें, तो शिक्षा उनके ऊपर न चढ़ पायेगी—वे ही शिक्षाके ऊपर चढ़ बैठेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि हमारी इस बात का अनुमोदन करनेमें लोग आनाकानी न करेंगे; परन्तु जब इसके अनुसार काम करनेका मौका आयगा, तब ठंडे हो जायँगे। वे सोचेंगे कि बालकोंको शिक्षा इस तरहसे दी ही नहीं जासकती। यह बिलकुल असंभव है। ठीक ही है—ये लोग जिसे शिक्षा समझते हैं, वह इस तरह सचमुच ही नहीं दी जा सकती। थोड़ीसी पुस्तकें तथा थोड़ेसे विषय नियत कर देना और नियत समयके भीतर नियत प्रणालीसे परीक्षा ले लेना, इसीको ये लोग विद्या सिखलाना

कहते हैं और जहाँ इस प्रणालीसे शिक्षा दी जाती है, उसीको विद्यालय कहते हैं। उनकी समझके अनुसार मानों विद्या एक स्वतन्त्र (जुदा) पदार्थ है; उसे यदि देखना हो तो उनकी बुद्धिके अनुसार बालकके मनसे अलग—कुछ अन्तर पर—देखना चाहिए। अर्थात् पुस्तकोंके पत्र अथवा अक्षरोंकी संख्या गिनकर बालकोंकी विद्याका हिसाब लगाना चाहिए। भले ही इस विद्यासे छात्रोंका मन पिस जाय, भले ही वे पुस्तकोंके गुलाम बन जायँ, भले ही उनकी स्वाभाविक बुद्धि मूर्छित हो जाय, भले ही वे अपनी स्वाभाविक शक्तियोंके द्वारा ज्ञानको अधिकृत करनेकी शक्तिको अभ्यास और कष्टकर शासनके वश सदाके लिए खो बैठें, पर कहेंगे इसे विद्या।

बालकोंका मन जितनी शिक्षाके ऊपर अपना स्वामित्व जमा सके, उतनी ही शिक्षा—चाहे वह थोड़ी ही क्यों न हो—सच्ची शिक्षा है। और जो 'शिक्षा' नाम धारण करके भी उनके मनको ढँक देती है उसे पढ़ाना भले ही कह लीजिए, पर शिक्षा या सिखाना तो उसे नहीं कह सकते। विधाताने जान लिया था कि आगे मनुष्य स्वयं अपने ही ऊपर अनेक अत्याचार करेगा। इस लिए उसने मनुष्यको पहलेहीसे बहुत मजबूत बना दिया है। इसी कारण गुरुपाक अखाद्य खाकर अजीर्ण भोगकर भी मनुष्य बचा रहता है और बचपनसे शिक्षाके असह्य कष्ट सहन करके भी बहुत विद्या प्राप्त कर लेता है और उसके कारण गव तक करने लगता है! अर्थात् हमारी शिक्षाप्रणाली इतनी कष्टकर है कि उससे हमारी मानसिक शक्तियोंका जीवित रहना ही कठिन था, परन्तु विधाता ने हमारी इस शक्तिको ऐसी मजबूत बनाई है कि इस दशामें भी हम थोड़ी बहुत विद्या सीख लेते हैं। इस ताड़ना और पीड़नसे कितनी हानि उठानी पड़ती है, इसे बहुत लोग तो समझते ही

नहीं हैं, बहुत लोग समझकर स्वीकार नहीं करते हैं और बहुत लोग ऐसे हैं जो समझते हैं तथा स्वीकार भी करते हैं, परन्तु काम के वक्त, जैसा चला आरहा है वैसा ही चलाये जाना पसन्द—करते हैं।

शिक्षाका हेर फेर।

जो कुछ अत्यावश्यक या बहुत जरूरी है उसीकी लपेटमें पड़े रहना मानव-जीवनका धर्म नहीं। हम लोग कुछ तो आवश्यक शृंखलामें बँधे रहते हैं और कुछ स्वाधीन रहते हैं। हमारी देह साढ़े ही तीन हाथकी है; किन्तु साढ़े ही तीन हाथका घर बनानेसे हमारा काम नहीं चल सकता। उसमें स्वाधीनतापूर्वक चलने फिरनेके लिए लम्बी चौड़ी जगह रखनी पड़ती है; नहीं तो हमारे सुख और स्वास्थ्यमें बाधा पड़ती है—हम तन्दुरुस्त और प्रसन्न नहीं रह सकते। शिक्षाके विषयमें भी यही बात है। केवल आवश्यक शिक्षाके घेरेके भीतर बालक-बालिकाओंको कैद कर रखनेसे उनका मन यथेष्ट विकसित नहीं होने पाता। अत्यावश्यक शिक्षाके साथ साथ यदि स्वाधीन पाठ न पढ़ाये जायँ—और और बातें न सिखाई जायँ—तो बालक अच्छी तरहसे मनुष्य नहीं होने पाते। बड़े हो जाने पर भी वे एक तरहसे बालक ही रह जाते हैं।

दुर्भाग्यवश हमारे लिए समयका सुभीता नहीं। जितनी जल्दी बन सकता है विदेशी भाषा सीखकर और उसमें उत्तीर्ण होकर हमें काम करना पड़ता है। इसी लिए बचपनसे हमें—सिवा

इसके कि यहाँ वहाँ देखे बिना घुड़दौड़के घोड़ोंकी तरह दौड़ते जाँय—पाठ कण्ठ करनेमें पीछे न रह जाँय—और किसी भी बातके लिए समय नहीं मिलता। यही कारण है कि बच्चोंके हाथमें पाठ्य पुस्तकोंके सिवा यदि कोई दूसरी मनोरंजक अथवा उपयोगी पुस्तक देखी जाती है तो वह उसी समय छीन ली जाती है।

और मनोरंजक पुस्तकें मिल भी कहाँ सकती हैं। एक तो हमारी भाषामें इस प्रकारकी पुस्तकें ही नहीं, और जो एक दो हैं भी, उनका होना न होना बराबर है। क्योंकि हमारे बच्चोंको उनकी मातृ-भाषा इस तरह सिखाई ही नहीं जाती कि वे अपनी इच्छाके अनुसार घर बैठकर मातृभाषाके किसी काव्यका वास्तविक स्वाद पा सकें। वे बेचारे अँगरेजीभी इतनी नहीं जानते कि अँगरेजीकी ही बालोपयोगी पुस्तकोंमें प्रवेश कर सकें—उनका अभिप्राय समझ सकें। एक तो उनकी अँगरेजी-योग्यता ही कमी होती है; फिर शिशुपाठ्य अँगरेजी पुस्तकें ऐसी अँगरेजीमें होती हैं—उनमें इतनी अधिक घरेलू बातें, कहावतें और कहानियाँ रहती हैं—कि बड़े बड़े बी. ए. एम. ए. भी कभी कभी उन्हें अच्छी तरह नहीं समझ सकते।

बात यह है कि विधाताने हमारे देशके बालकोंके भाग्यमें अँगरेजी व्याकरण, कोश और भूगोल-विद्याको छोड़कर और कुछ लिखा ही नहीं। इनके समान अभागा शायद ही और कोई हो। और और देशके बालक जिस उम्रमें अपने नवोद्गत दाँतोंसे प्रसन्नतापूर्वक गन्ना चूसते हैं, उसी उम्रमें हमारे बच्चे स्कूलकी बेंचों पर बैठ कर, अपने छोटे छोटे दुर्बल पैर हिला हिला कर, केवल ऐसे बेत हजम करते हैं जिनमें मास्टर साहबकी कटु गालियोंके सिवा और किसी प्रकारका सुस्वादु मसाला नहीं मिला रहता।

फल इसका यह होता है कि शारीरिक मानसिक, दोनों ही

प्रकारके खाद्य हजम करनेकी शक्ति कम हो जाती है। अर्थात् मनमाने खेलकूद और हितकारी आहारके अभावसे जिस प्रकार हमारे बालकोंका शरीर उसी प्रकार उनका मानसिक पाकयंत्र भी कमजोर होजाता है—उसमें विचारोंको परिपक्व करने की पूरी शक्ति नहीं उत्पन्न हो पाती। इन यन्त्रकी दुर्बलताका ही यह फल है कि यद्यपि हम बड़ी बड़ी बी. ए., एम. ए. की पदवियाँ पा लेते हैं और ढेरकी ढेर पुस्तकें निगल जाते हैं तथापि हमारी बुद्धि यथेष्ट बलिष्ट और परिपक्व नहीं होती। न तो हम किसी विषयको अच्छी तरह समझ ही सकते हैं और न आदिसे अन्त तक किसी विषयकी उत्तम रचना ही कर सकते हैं। हमारे मतामत, बातचीत और आचार-विचार स्वाधीन और परिपक्व नहीं होते। इसीसे हम अपनी इस मानसिक दुर्बलताको अत्युक्ति, आडम्बर और उछल-कूदके द्वारा ढँकनेकी चेष्टा किया करते हैं।

इसका प्रधान कारण यही है कि बचपनसे हमारी शिक्षाके साथ आनन्दका मेल नहीं रहता। हम केवल वही कण्ठस्थ किया करते हैं जो बहुत ही आवश्यक होता है। ऐसा करनेसे हमारा काम तो किसी तरह चल जाता है; किन्तु हमारी बुद्धिका विकास नहीं हो पाता। यद्यपि हवा खानेसे पेट नहीं भरता, भोजन करनेसे ही पेट भरता है; परन्तु भोजनको अच्छी तरह पचानेके लिए हवा खानेकी भी जरूरत रहती है। इसी प्रकार किसी शिक्षा-पुस्तकको भली भाँति पचानेके लिए—आत्मसात् करनेके लिए—दूसरी आनन्दजनक पुस्तकोंकी सहायताकी भी आवश्यकता रहती है; क्योंकि आनन्दलाभके साथ ही साथ, पढ़ने से पढ़नेकी शक्ति अलक्षित भावसे—बिना जाने ही—बढ़ती रहती है और धारणा तथा विचार-शक्ति सहज ही बलवती होती रहती हैं।

किन्तु बहुत कुछ सोच विचार करने पर भी हम यह नहीं समझ सकते कि इस मानसिक शक्तिको क्षीण करनेवाली निरानन्द-मयी शिक्षाके हाथसे हमारे बालकोंका छुटकारा कैसे होगा।

एक तो अँगरेजी भाषा बिलकुल ही विजातीय भाषा है। हमारी भाषाके शब्द-विन्याससे उसका जरा भी मेल नहीं। भाव-विन्यास तथा विषय-प्रसङ्ग भी उसका विदेशी है। उसकी सभी बातोंसे हम अपरिचित हैं। इससे धारणाशक्ति उत्पन्न होनेके पहले ही हमें कण्ठस्थ करनेका प्रारम्भ करना पड़ता है। तब हमारी वही दशा होती है जो किसी अन्नको बिना चबाये ही निगल जानेवालेकी होती है। कल्पना कीजिए कि किसी रीडर में "Hay-making" के सम्बन्धमें एक कथा है। यह कथा प्रत्येक अँगरेज-बालकके लिए बहुत ही आनन्ददायक है, क्योंकि इससे वह खूब परिचित रहता है। इसी तरह "Snow-ball" नामक खेल में Charlie और Katie के बीच जो विवाद हुआ था उसका इतिहास अँगरेज-सन्तानके लिए तो बहुत ही कौतुक-जनक है; किन्तु हमारे बालक जब उसे विदेशी भाषामें पढ़ते हैं तब उनके मनमें किसी प्रकारकी भी स्मृतिका उदय नहीं होता। उनके हृत्पटल पर कोई भी स्पष्ट चित्र नहीं खिंच पाता। उन्हें अन्धेके समान टटोल टटोल कर चलना पड़ता है।

नीचेकी क्लासोंमें जो मास्टर पढ़ाते हैं प्रायः उनमेंसे कोई तो एंट्रन्स पास होते हैं और कोई एंट्रन्स फेल। अँगरेजी-भाषा, भाव, आचार-व्यवहार और साहित्यसे उनका भली भाँति परिचय नहीं होता। अँगरेजीके साथ हमारा मनसे पहला परिचय यही लोग कराते हैं। ये न तो जानते हैं अच्छी देश-भाषा, और न समझते हैं अच्छी अँगरेजी। हाँ बालकोंको सिखलानेकी अपेक्षा ये भुलाना बहुत ही अच्छी तरह जानते हैं और इस विषयमें इन्हें सफलता

भी खूब होती है।

पर इन बेचारोंका इसमें कोई दोष नहीं। Horse is a noble animal—यह अँगरेजीका एक वाक्य है। यदि इसका हिन्दीमें अनुवाद किया जाय तो हिन्दी भी ठीक नहीं होती और अँगरेजी भी बिगड़ जाती है। घोड़ा एक बड़ा जन्तु है; घोड़ा एक बहुत ही ऊँचे दर्जेका जानवर है, घोड़ा बहुत अच्छा जानवर है—इस तरह किसी भी प्रकारसे उक्त वाक्यका अभिप्राय वैसा अच्छा नहीं व्यक्त होता जैसा कि चाहिए। अतएव ऐसे मौकों पर गोलमाल कर देनेहीमें सुभीता होता है। हमारी प्रारम्भिक अँगरेजी शिक्षामें इस प्रकारके न मालूम कितने गोलमाल होते हैं। मतलब यह कि छोटी उम्रमें जो अँगरेजी सिखाई जाती है वह इतनी मामूली और इतनी धुँधली होती है कि उससे किसी प्रकार का रस आकर्षण कर लेना बालकोंके लिए एक प्रकारसे असम्भव ही होता है। रसास्वादनकी कोई आशा भी तो नहीं करता। मास्टर भी कहते हैं और विद्यार्थी भी कहते हैं कि हमें रससे मतलब नहीं; यदि हमने खींच-खाँच कर मतलब निकाल लिया तो बस काम हो गया—आफत टल गई। परीक्षामें पास हुए कि आफिसोंमें नौकरियाँ तैयार हैं। वे शङ्कराचार्य्यके इस फबते हुए वचनका पूरा पूरा अनुसरण करते हैं—

"अर्थमनर्थं भावय नित्यं, नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्"

अर्थात्—अर्थको सदा अनर्थ समझना, उसमें सख भी नहीं है और उसमें सत्य भी नहीं है।

तब बालकोंके भाग्यमें बाकी क्या रह गया ? यदि वे केवल देश-भाषा ही सीखते तो उन्हें रामायणादि ग्रन्थ तो पढ़नेके लिए मिलते। यदि कुछ भी न सीखते तो खेलनेको तो मिलता—पेड़ों पर चढ़ कर, पानीमें तैर कर, फूल तोड़ कर, प्रकृति माताके साथ

सैकड़ों उपद्रव करके शरीरकी पुष्टि, मनकी प्रसन्नता और बाल्य प्रकृतिकी परितृप्ति तो प्राप्त कर सकते। पर अँगरेजी सीखनेसे न हुआ सीखना, न हुआ खेलना और न मिला प्रकृतिके सत्य राज्यमें प्रवेश करनेका अवकाश। साहित्यके कल्पनाराज्यमें प्रवेश करनेका द्वार भी उनके लिए बन्द रहा। हमारे भीतर और बाहर दो उदार और उन्मुक्त विहार-भूमियाँ हैं। हम इन दोनों ही भूमियोंसे जीवन बल और स्वास्थ्य सञ्चय करते हैं। इन्हीं स्थानोंसे नाना वर्ण, नाना गन्ध, नाना रूप, विचित्र गति, गीति, प्रीति और प्रफुल्लतायें सर्वदा कल्लोलित होकर हमें सर्वांग सचेतन और सर्वथा विकसित करनेकी चेष्टा किया करती हैं। परन्तु, हाय! हमारे हतभाग्य बालक इन दोनों मातृ-भूमियोंकी गोदसे जुदा होकर एक विदेशी कारागारमें बेड़ियोंसे जकड़ कर रक्खे जाते हैं! ईश्वरने जिनके लिए माता-पिताओंके हृदयमें स्नेहका सञ्चार किया है, जननीकी गोदको कोमल कर दिया है, और जो आकारमें छोटे होने पर भी सारे गृहकी शून्यताको पूर्ण कर देते हैं, उन्हें अपना बाल्यकाल विदेशीभाषाके व्याकरण और कोशकी रटन्तमें बिताना पड़ता है—जिसमें न जीवन है, न आनन्द है, न अवकाश है, न कोई नवीनता है और न हिलने-डुलनेको तिल भर जगह ही है। इस व्याकरण और कोशकी अतिशय सूखी और कठोर सङ्कीर्णता में क्या कभी बालकोंकी मानसिक पुष्टि, चित्तकी विस्तृति और चरित्रकी बलिष्ठता हो सकती है? वे क्या कभी पाण्डुवर्ण, रक्तहीन, शीर्ण और अधूरे रहनेसे बच सकते हैं? वे क्या बड़े होने पर अपनी बुद्धिसे कोई काम कर सकते हैं, अपना बल लगा कर विघ्न-बाधाओंको दूर कर सकते हैं और अपने स्वाभाविक तेजसे मस्तकको ऊँचा रख सकते हैं? कभी नहीं। वे केवल रटना, नकल करना और गुलामी करना ही सीखेंगे।

कोई एकाएक बालकसे जवान नहीं हो जाता। बाल्यकालसे ही परिणत होते होते यौवनावस्था प्राप्त होती है। विचार-शक्ति और कल्पना-शक्ति ये दो बहुत ही आवश्यक वस्तुयें हैं। यही जीवनका प्रधान अवलम्बस्वरूप हैं। परन्तु ये ऐसी नहीं हैं कि यौवनावस्थामें एकाएक काम पड़ते ही—ज्यों ही हम चाहें त्यों ही—हमारे समीप उपस्थित हो जायँ। हमारे हाथ-पैरोंके समान ये भी हमारे जीवनके साथ ही साथ क्रमसे बढ़ती रहती हैं। ये किसी तैयार की हुई चीजके समान नहीं कि जब जरूरत हुई तब बाजार से खरीद ली।

इसमें तो जरा भी सन्देह नहीं कि विचार और कल्पना ये दो शक्तियाँ जीवनयात्राके लिए बहुत ही आवश्यक हैं। मनुष्य बनने—वास्तविक मनुष्यत्व प्राप्त करने—के लिए इन दो शक्तियोंके बिना काम ही नहीं चल सकता। यदि हम बाल्यकालसे ही विचार और कल्पनाकी ओर लक्ष्य न देंगे तो वे काम पड़ने पर हमें तैयार न मिल सकेंगी।

किन्तु, हमारी वर्तमान शिक्षाप्रणालीमें विचार और कल्पना-शक्तिके बढ़ानेका मार्ग प्रायः बिलकुल ही बन्द है। हमें बहुत समय तक केवल भाषा-शिक्षाहीमें लगे रहना पड़ता है। पहले ही कहा जा चुका है कि अँगरेजी बड़ी ही क्लिष्ट विदेशी भाषा है और हमारे शिक्षक प्रायः इतने अल्पबुद्धि होते हैं कि हमारे मनमें भाषाके साथ साथ भावोंका सहज ही प्रवेश नहीं हो सकता। इसी लिए अँगरेजी भावोंका थोड़ासा परिचय पानेके लिए हमें बहुत समय खोना पड़ता है और तब तक हमारी विचारशक्ति अपने योग्य किसी कामको न पाकर बिलकुल ही निश्चेष्ट और निकम्मी पड़ी रहती है। एंट्रन्स और फर्स्ट आर्ट्स तक तो हमारा समय केवल साधारण कामचलाऊ अँगरेजी सीखनेहीमें जाता है। इसके

बाद ही एकाएक बी० ए० क्लासमें हमारे सामने बड़े बड़े पोथे और अतिशय विचारसाध्य विषय रख दिये जाते हैं। परन्तु उस समय न तो हमें उनको अच्छी तरह समझनेका अवसर ही मिलता है और न हमारी शक्ति ही उन्हें समझने योग्य रहती है। अतएव हमें लाचार होकर, सबको मिला कर और एक बड़ा सा गोला बना कर, एक ही बार एक ही कौरमें उसे निगल जाना पड़ता है।

हम पढ़ते तो बराबर जाते हैं; परन्तु उसके साथ साथ विचार नहीं करते। हम ईंट-चूनेके ढेरको ऊँचा तो करते जाते हैं, परन्तु उसे कामके योग्य नहीं बनाते—अर्थात् बुद्धिमानीसे उसे उपयोगी मकानके रूपमें नहीं चुनते। इस तरह ईंट, चूना, रेत, सिमिंट, खम्भे, लोहे आदिका ढेर पर्वतके समान ऊँचा हो जाता है। ठीक इसी समय विद्यालयसे हुक्म जारी होता है कि एक तिमंजिले मकानकी छत तैयार करो। बस, फिर क्या है; तत्काल ही हुक्मकी पाबन्दी की जाती है और हम पूर्वोक्त सामग्रीके ढेरके शिखर पर चढ़ कर दो ही वर्षमें पीट-पाट कर किसी तरह उसके ऊपरी भागको समतल या सपाट कर देते हैं; और जब वह ढेर कुछ कुछ छतके समान दिखाई देने लगता है तब कह देते हैं कि लीजिए, यह तिमंजिलेकी छत तैयार हो गई। किन्तु इसको क्या अट्टालिका या तिमंजिला मकान कह सकते हैं? हवा और प्रकाशके यथेष्टरूपसे आनेके लिए इसमें क्या कोई मार्ग रहता है? इसमें क्या कोई मनुष्य चिरकाल तक निवास कर सकता है? बाहरी संसारकी तेज धूप और आँधी-पानीसे क्या यह हमारी रक्षा कर सकता है और क्या इसमें कोई सिलसिला, सुन्दरता और शोभा दिखाई दे सकती है?

यह सच है कि यह जो माल-मसाला इकट्ठा किया गया है वह

बहुत है। मानसिक अट्टालिका बनानेके लिए इतनी ईंट, चूना, रेत, सिमिंट आदि पहले हमें नहीं मिलता था। परन्तु यह समझ लेना बड़ी भारी भूल है कि संग्रह करना सीख लेनेसे ही किसीको निर्माण करना भी आ जाता है। वास्तवमें जब संग्रह और निर्माण दोनों साथ साथ चलते हैं और क्रम क्रमसे धीरे धीरे होते रहते हैं तभी काम पक्का होता है। अर्थात् जब संग्रह-योग्य सामग्री हाथमें है तब उसका उपयोग जानना, उसका वास्तविक परिचय प्राप्त करना और जीवनके साथ आश्रयस्थल भी खड़ा कर देना—यही सच्ची शिक्षा है। किन्तु हमारे देशमें ठीक इससे उलटा हो रहा है। यहाँ मनुष्य बढ़ता है एक ओरको और उसकी विद्या बढ़ती है किसी और ही ओरको। एक ओर तो इतना खाद्य इकट्ठा हो रहा है कि भाण्डारमें रखनेको जगह नहीं और दूसरी ओर इतनी भूख बढ़ रही है कि पाकयन्त्र अपनी जठराग्निसे अपनेको ही जीर्ण कर रहा है। इस तरह हमारे देशमें एक अभूतपूर्व लीला हो रही है!

अतएव यदि बालकोंको मनुष्य बनानेकी इच्छा हो तो बालपनसे ही उन्हें मनुष्य बनानेका प्रारम्भ करो; नहीं तो वे बालक ही रह जायँगे; मनुष्य न बन सकेंगे। बालपनसे स्मरण-शक्तिहीके ऊपर सारा बोझा न लाद कर बालकोंको अपनी विचार-शक्ति और कल्पना-शक्ति बढ़ानेका भी मौका देना चाहिए। जिस तरह खेत बोने योग्य करनेके लिए सबेरेसे शाम तक केवल हल चलाना और मिट्टीके ढेले फोड़ना ही काफी नहीं, उसी तरह इस मानवजन्मको कार्य्य-योग्य करनेके लिए—इस दुर्लभ खेतको खूब उपजाऊ बनानेके लिए—केवल रटना और परीक्षा पास करना ही यथेष्ट नहीं। इस सूखी मिट्टीके साथ, इस अविश्रान्त कर्षण और पीड़नके साथ साथ—कुछ रस भी होना चाहिए। क्योंकि, मिट्टीमें जितना ही

अधिक रस होगा उतना ही अच्छा धान्य भी होगा। इसके सिवा कुछ मौके ऐसे हैं जिनमें खेतके लिए वर्षाकी बहुत ही जरूरत होती है। उन मौकोंके निकल जाने पर हजार वृष्टि होने पर भी फिर वैसा लाभ नहीं होता। वयोविकाशके समय जीवनकी परिणति और सरसता साधनेके लिए सजीव भावों और कल्पनाओंकी बड़ी ही जरूरत होती है। इस समय यदि साहित्यके आकाशसे एक अच्छी वर्षा हो जाती है तो सारा काम बन जाता है। जब हृदयके नवीन नवीन अंकुर अँधेरी मातृ-भूमिसे बाहर निकल कर विपुल पृथ्वी और अनन्त आकाशकी ओर मस्तक उठा कर देखने हैं, प्रच्छन्न जन्मान्तःपुरके द्वार पर आकर जब उनका बाहरी संसारसे नया परिचय होता है, जब नवीन विस्मय, नवीन स्नेह और नवीन कौतूहल उनको चारों ओरसे घेर लेते हैं, तब यदि भावकी वायु चल पड़ती है और चिरानन्द-लोकसे प्रकाश और आशीर्वादकी धारा गिरने लगती है तो उन अंकुरोंका सारा जीवन यथासमय सफल, सरस और परिपूर्ण हो जाता है। किन्तु इस समय यदि वे शुष्क धूलि और तप्त बालुकासे—केवल नीरस व्याकरण और विदेशी शब्दकोशसे ढँक जाते हैं—तो पीछे मूसलधार वर्षा होने पर भी—यूरोपीय साहित्यके नये नये सजीव सत्योंकी, विचित्र कल्पनाओंकी और उच्च भावोंकी वृष्टि होने पर भी—वे यथेष्ट सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। साहित्यकी अन्तर्निहित जीवनी-शक्ति उनके जीवन पर सहज भावसे प्रकाश नहीं डाल सकती।

किन्तु, हमारी नीरस शिक्षाके कारण जीवनका यह माहेन्द्र योग व्यर्थ चला जाता है। हम थोड़ी सी रटी-रटाई बातोंका बोझा खींचते हुए बालपनसे कैशोर और किशोरावस्थासे यौवनमें प्रवेश करते हैं। सरस्वतीके साम्राज्यमें हम केवल मजदूरी कर करके

मरते हैं। रटते रटते हमारी कमर झुक जाती है; परन्तु हमारे मनुष्यत्वका सर्वाङ्गीण विकाश नहीं हो पाता। आगे जब हमारा प्रवेश अँगरेजीके भावराज्यमें होता है तब वहाँ भी हम तन्मय होकर विहार नहीं कर पाते। यद्यपि उन भावोंको हम एक प्रकार से समझ लेते हैं; तथापि उन्हें अपने हृदय पर अच्छी तरह खचित नहीं कर सकते। उन्हें हम अपने व्याख्यानों और लेखोंमें व्यवहार करते हैं, किन्तु जीवनके कार्य्यमें परिणत नहीं कर सकते। अर्थात् वे भाव हमारे बाहर ही बाहर रह जाते हैं; अन्तरङ्गके साथ उनका सम्बन्ध नहीं होता।

इस तरह लगातार बीस बाईस वर्ष तक हम जिन भावोंको सीखते हैं उनका हमारे जीवनके साथ रासायनिक मिश्रण नहीं होता। इस कारण हमारा मन एक अद्भुत ही स्वरूप धारण कर लेता है। हमारे इन सीखे हुए भावोंमेंसे कुछ भाव तो बाहरसे जोड़े और चिपकाये हुए होते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो काल पाकर उड़ जाते हैं। असभ्य जंगली आदमी जिस तरह शरीर पर रंग पोत कर सुन्दरताका गर्व करते हैं और अपने स्वाभाविक शरीरकी उज्जवलता तथा लावण्यको ढँक देते हैं उसी तरह हम भी इस विलायती विद्यारूपी रंगको अपने शरीरपर पोत कर घमण्डमें अकड़ते फिरते हैं परन्तु हमारे वास्तविक अन्तरंग जीवनके साथ उसका बहुत ही कम सम्बन्ध रहता है। जिस तरह असभ्य और बर्बर प्रदेशोंके राजा काँचके टुकड़े आदि सस्ती विलायती चीजें पाकर अपने शरीरमें जहाँ तहाँ लटका लेते हैं, परन्तु वे यह नहीं जानते कि सभ्य संसारकी दृष्टिमें उनका यह कार्य्य कितना हास्य-जनक है, उसी तरह हम भी थोड़ी बहुत तड़क-भड़कदार, किन्तु सस्ती, विलायती बातोंको लेकर ऐंठते फिरते हैं और विलायतके बड़े बड़े बहुमूल्य भावोंको लेकर उनका बिलकुल ही अयथास्थान या

बेमौका और बेढंगा उपयोग करते हैं। हम यह नहीं समझते कि हमारे द्वारा अज्ञातरूपसे यह कैसा अपूर्व प्रहसन खेला जा रहा है। तिस पर भी तुर्रा यह कि यदि हम अपनी इस चेष्टा पर किसीको हँसते पाते हैं तो उसी समय यूरोपके इतिहाससे बड़ी बड़ी नजीरें निकाल कर उसके सामने पेश करने लिए तैयार हो जाते हैं! जब हमें बालपनहीसे भाषा-शिक्षाके साथ साथ भाव-शिक्षा दी जाय और भावोंके साथ ही साथ हमारी जीवनयात्रा भी नियमित होती रहे—अर्थात् उन भावोंका हमारी जीवनचर्या पर भी यथेष्ट प्रभाव पड़ता रहे—तभी हमारे समस्त जीवनमें वास्तविक सामंजस्य स्थापित हो सकता है; हम सहज ही जैसे चाहिए वैसे मनुष्य बन सकते हैं और भाषा, भाव, जीवन आदि सभी विषयों को समुचित परिमाणमें रख सकते हैं।

जब हम एक बार अच्छी तरहसे विचार करके देखेंगे कि हमें जिस भाव या जिस ढँगसे जीवन निर्वाह करना है उसके अनुकूल हमारी शिक्षा नहीं है; हमें जिस घरमें मरणपर्यन्त निवास करना है उस घरका उन्नत चित्र हमारी पाठ्यपुस्तकोंमें नहीं है; जिस समाजमें हमें अपना जीवन बिताना है उस समाजका कोई भी उच्च आदर्श हमारे शिक्षणीय साहित्यमें नहीं पाया जाता; हम अपने माता-पिताओंको, भाई-बहनोंको बन्धुबान्धवोंको उसमें प्रत्यक्ष नहीं देख पाते; हमारे दैनिक कार्यकलाप उसमें स्थान नहीं पाते; हमारे आकाश और पृथ्वी हमारे निर्मल प्रभात और सुन्दर सान्ध्यकाल और हमारे हरे-भरे शस्यक्षेत्र उसमें दिखाई नहीं देते; हमारी देशलक्ष्मीरूपिणी स्रोतस्विनीका संगीत उसमें ध्वनित नहीं होता; तब हम समझ सकेंगे कि हमारी शिक्षाके साथ हमारे जीवनके मिश्रणकी कोई सम्भावना नहीं है—दोनोंके बीचमें बड़ा भारी अन्तर अवश्य रहेगा; हमारी शिक्षासे हमारे जीवनकी सारी

आवश्यकताओंकी पूर्ति कभी न हो सकेगी। हमारे जीवनकी दीवार जिस जगह खड़ी है उससे सैकड़ों हाथकी दूरी पर हमारी शिक्षाकी वृष्टिधारा पड़ती है। ऐसी अवस्थामें जो कुछ रस बीचकी रुकावटोंको दूर करके हम तक पहुँचता है वह हमारे जीवनकी शुष्कता दूर करनेके लिए यथेष्ट नहीं। हम जिस शिक्षामें अपना सारा जन्म व्यतीत करते हैं वह हमें केवल बाबूगरी या ऐसे ही और किसी व्यवसायके योग्य बना देती है इससे अधिक वह हमारी कोई भलाई नहीं करती। जिस सन्दूकमें हम अपने आफिस जानेके कपड़े धरी करके रख देते हैं उसी सन्दूकमें हम अपनी सारी विद्या भी उठा कर रख देते हैं; आठ पहरके दैनिक जीवनमें हम उसका कोई उपयोग नहीं करते। यह सब वर्तमान शिक्षाप्रणालीकी कृपा है। इसके लिए छात्रोंको दोष देना अन्याय है; उन बेचारोंका इस में कोई दोष नहीं। क्योंकि उनका ग्रन्थ-जगत् एक प्रान्त में रहता है और निवास-जगत् दूसरे ही प्रान्तमें; बीचमें केवल व्याकरण और कोशका पुल रहता है! इसी लिए हमें यह देख कर जरा भी आश्चर्य नहीं होता कि हमारे देशका जो पुरुष यूरोपीय दर्शन, विज्ञान और न्यायशास्त्रका अच्छा पण्डित है वही पुराने कुसंस्कारों का—झूठे अन्धविश्वासोंका—यत्नपूर्वक पोषण कर रहा है; जो स्वाधीनताके उज्ज्वल आदर्शका अपने व्याख्यानों द्वारा प्रचार करता है वही पराधीनताके सैकड़ों हजारों लूतातन्तुओंसे (मकड़ीके जालोंसे) आपको और दूसरोंको भी आच्छन्न करके दुर्बल कर रहा है; जो विचित्रभावपूर्ण साहित्यका स्वाधीनतापूर्वक उपभोग करता है वही अपने जीवनके भावोंको उच्च शिखर पर आरूढ़ नहीं कर रहा है; केवल धन कमाने और सांसारिक उन्नतिके साधनोंमें व्यस्त हो रहा है। ऐसे लोगोंकी विद्या और व्यवहारके बीच एक दुर्भेद्य अन्तर पड़ रहा है, जिसके कारण ये दोनों कभी अच्छी तरह नहीं मिल सकते;

इनमें परस्पर विरुद्धता बनी ही रहती है।

इसका फल यह होता है कि ये दोनों एक दूसरेसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक विरुद्ध होते जाते हैं। हमारी सीखी हुई विद्यासे हमारा जीवन या व्यवहार बराबर प्रतिवाद करता हुआ चलता है। इससे उस विद्याके विषयमें शुरूसे ही अश्रद्धा और अविश्वास उत्पन्न होता रहता है। हम समझने लगते हैं कि यह विद्या एक प्रकारका भ्रम है और सारी यूरोपीय सभ्यता इसीके ऊपर प्रतिष्ठित है। परन्तु हमारा जो कुछ है वह सभी सत्य है। हमारी यह शिक्षा हमें जिस ओरका मार्ग बतलाती है उस ओर 'सभ्यता' नामक एक महामायाविनी मिथ्या राक्षसीका साम्राज्य है। उस ओर जाना हमारे लिए अनिष्टकर है। हम यह तो नहीं समझते कि हमारे दुर्भाग्यसे किसी कारण-विशेषसे ही हमारी शिक्षा हमारे लिए निष्फल हो रही है, किन्तु उलटा यह विश्वास कर लेते हैं कि उस शिक्षाके भीतर ही निष्फलताका स्वाभाविक कारण मौजूद है। इस तरह हम अपनी शिक्षाके प्रति जितनी ही अधिक अश्रद्धा करते हैं, हमारी शिक्षा भी हमारे जीवनके प्रति उतनी ही विमुख होती जाती है; हमारे चरित्र पर वह अपना पूरा प्रभाव नहीं डाल सकती मतलब यह कि हमारी शिक्षा और जीवनके बीच बराबर गृहविच्छेद बढ़ता ही रहता है। ये दोनों हर समय, एक दूसरेके प्रति, अतिशय तीव्र उपहास करते रहते हैं और इस प्रकारके असम्पूर्ण जीवन और असम्पूर्ण ज्ञानसे भारतवासियोंकी संसार-यात्रा एक हास्यपूर्ण प्रहसनका रूप धारण कर रही है।

अब यह बतलाइए कि जिस शिक्षाके लिए हमने अपने जीवनका एक तिहाई समय खो दिया वही यदि हमारे जीवनसे कुछ भी सम्पर्क न रक्खे और दूसरे प्रकारकी शिक्षा प्राप्त करनेसे भी हमें वंचित कर दे तो हमारे उद्धारका और क्या उपाय है?

अतएव, इस समय हमारे लिए सबसे अधिक विचारणीय और महत्वका विषय यही है कि हमारी शिक्षाके साथ हमारे जीवनका सामञ्जस्य कैसे स्थापित हो ?

हमारी मातृभाषा और मातृभाषासाहित्य, यही दो इस सामञ्जस्यको कर सकते हैं। जिस समय बंगालमें सबसे पहले स्वर्गीय बाबू बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्यायका बङ्गदर्शन, नूतन प्रभातके समान, उदित हुआ था, उस समय सारे शिक्षित बंगालमें क्यों एक अपूर्व आनन्द उद्वेलित हो उठा था ? क्या बङ्गदर्शनने किसी ऐसे नूतन तत्त्वका आविष्कार किया था जो यूरोपके दर्शन-विज्ञान और इतिहासमें नहीं पाया जाता ? नहीं, बङ्गदर्शनमें ऐसी कोई विशेषता न थी। किन्तु एक प्रबल प्रतिभाने बङ्गदर्शनका अवलम्बन करके हमारी अँगरेजी शिक्षा और हमारे अन्तःकरणके बीचका अन्तर दूर कर दिया था; प्रवासीको फिर घर लाकर हमारे घरको उत्सवपूर्ण कर दिया था। श्रीकृष्णके द्वारका चले जानेसे उनका बीस पच्चीस वर्षसे साक्षात् दर्शन न हुआ था। बङ्गदर्शन दूत बनकर उन्हें हमारे वृन्दावन-धाममें लौटा लाया। उस समय हमारे घरोंमें, हमारे समाजमें, हमारे अन्तरङ्गमें एक नवीन ज्योति फैल गई। हमने अपने घरोंकी स्त्रियोंको सूर्यमुखी और कमलमणिके रूपमें देखा; अपने देशवासी चन्द्रशेखर और प्रतापको एक अतिशय ऊँचे भावलोकमें प्रतिष्ठित देखा। हमारे प्रतिदिनके क्षुद्र जीवनके ऊपर एक महिमामय किरण आ पड़ी।

बङ्गदर्शन जिस अनुपम और नूतन रसका आस्वाद करा गया है, बङ्गालमें उसका फल यह हुआ है कि आज कलके शिक्षित लोग बङ्गभाषामें अपने भाव प्रकाशित करनेके लिए उत्साह प्रकट करने लगे हैं। वे यह समझ गये हैं कि अँगरेजी हमारे कामकी भाषा हो सकती है, किन्तु भाव-प्रकाश करनेकी भाषा नहीं है। हमने प्रत्यक्ष

देखा है कि यद्यपि हम बालपनसे केवल अँगरेजी ही प्रयत्नपूवक सीखते हैं, तथापि बंगालका वर्तमान स्थायी साहित्य, जो कुछ है, सभी बँगला भाषाहीमें प्रकाशित हुआ है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतवासी अँगरेजी भाषाके साथ अपने हृदयको इस तरह एक नहीं कर सकते कि वे उसके द्वारा साहित्यके स्वाधीन भावोच्छास प्रकाशित कर सकें। यदि कदाचित् अँगरेजी भाषासे उनका वैसा घनिष्ठ ऐक्य हो भी जाय, तो भी यह निश्चित है कि भारतीय भाव अँगरेजी भाषामें वैसे सजीव-रूपमें प्रकाशित नहीं हो सकते जैसे हमारी देशभाषाओंमें होते हैं। जो विशेष विशेष माधुर्य और विशेष विशेष भाव अपने प्रकाशनके लिए हमें उत्तेजित करते हैं और जिन सब संस्कारों या बिश्वासोंने हमारे मनोंको वंशपरम्परासे एक विशेष साँचेमें ढाल रक्खा है, वे विदेशी भाषामें स्वच्छन्दतापूर्वक प्रकाशित नहीं हो सकते।

हमारे शिक्षित युवक जब अपने भावोंके प्रकाशनकी इच्छा करते हैं तब मातृभाषाका अवलम्बन करते समय उनके हृदयमें एक प्रकारकी कातरता उत्पन्न होती है। किन्तु, हाय, हमारी यह अभिमानिनी देशभाषा ऐसी नहीं कि इतने अधिक समयके अपमान और अनादरको भूल कर आह्वान होते ही, अपना समस्त सौन्दर्य और समस्त गौरव लेकर, वह एक शिक्षाभिमानी गर्वोद्धत पुरुषके सामने जाकर खड़ी हो जाय। हे सुशिक्षित महाशय, क्या तुम हमारी इस सुकुमारी सुकोमला तरुणी भाषाकी यथार्थ मर्यादा समझते हो? इसके कटाक्षोंमें जो उज्ज्वल हँसी, अश्रुपूर्ण करुणा, प्रखर तेज, स्नेह, प्रीति, भक्ति स्फुटित होती है उसका गम्भीर मर्म क्या तुमने कभी समझा है या हृदयंगम किया है? तुम शायद यह सोचते होगे कि हमने मिल और स्पेन्सरके ग्रन्थ पढ़े हैं; बड़ी बड़ी डिगरियाँ प्राप्त की हैं; अतः हम एक स्वाधीन बिचारशील

मेधावी युवक हैं। इस लिए जब बहुतसे अभागे कन्याभार-ग्रस्त पिता अपनी कन्यायें और धन लेकर हमारे द्वार पर टकराते फिरते हैं, तब अशिक्षित ग्रामीण लोगोंके घरकी इस तुच्छ भाषाको भी उचित था कि हमारा इशारा पाते ही वह हमारी शरणमें आकर अपना जन्म सफल करती। किसी ग्रामीण भाषाका इससे अधिक सौभाग्य और क्या हो सकता है कि हम जीवन भर अँगरेजी सीख कर भी इसमें लिखनेकी कृपा करते हैं? हम जब अँगरेजी भाषाके अनायास-प्राप्य यशकी परवा न करके अपने बड़े बड़े बहुमूल्य भाव इस दरिद्र देशमें उदारतापूर्वक विसर्जन करनेके लिए तैयार हैं, तब जिस तरह कोई दीन हीन पथिक राजाको देखते ही आदरपूर्वक रास्ता छोड़ कर एक ओर खड़ा हो जाता है उसी तरह हमारे मार्ग-की तुच्छ बाधा-विपत्तियोंको उचित था कि वे घबरा कर हमारे सामनेसे हट कर एक ओर खड़ी हो जातीं। देशवासियो, एक बार अच्छी तरह विचार करके देखो कि हम तुम्हारा कितना उपकार करनेके लिए तैयार हैं; हम तुम्हें पोलिटिकल इकानमीकी बीसों बातें बतलावेंगे; एवोल्यूशनका नियम जीव-राज्यसे लेकर समाज और आध्यात्मिक जगत् पर्यन्त किस रूपसे कार्य कर रहा है, इस विषयमें हमने जो कुछ सीखा है वह सब तुम्हारे सामने प्रकट कर देंगे; कुछ भी छिपा कर न रक्खेंगे; अपने ऐतिहासिक और दार्शनिक लेखोंके फुटनोटोंमें अनेक भाषाओंके दुरूह ग्रन्थोंसे सैकड़ों बातें संग्रह करके दिखलावेंगे और विलायती साहित्यके विषयमें किस समालो-चकने क्या सम्मति प्रकाशित की है, सो भी तुम्हें बतला देंगे। किन्तु यदि यह तुम्हारी गँवारी भाषा आज्ञा पाते ही हमारी सेवामें उपस्थित न होगी तो हम उसमें एक अक्षर भी न लिखेंगे। हम बकालत करेंगे, हेल्थ आफिसर, पुलिसके डिपुटी सुपरिन्टेन्डेन्ट, मुनसिफ, डिपुटी कलेक्टर हो जायँगे और जीमें

आवेगा तो अँगरेजी अखबारोंमें लेख भी लिखेंगे; परन्तु तुम्हारी भाषाका कभी नाम भी न लेंगे । सोचो, इससे तुम्हारी कितनी हानि होगी !

इस देशका बड़ा भारी दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि न तो यह लज्जाशीला, किन्तु तेजस्विनी, देशभाषा इन अँगरेजीबाज युवकोंका आदर करती है और न ये नवयुवक गर्व छोड़कर अपनी भाषासे सम्पर्क रखते हैं। यहाँ तक कि ये मातृभाषामें कभी चिट्ठी भी नहीं लिखते; इष्ट मित्रोंसे मिलते समय भी जहाँ तक बनता है अँगरेजी ही बूंकते हैं और देशभाषाके ग्रंथोंको अवज्ञापूर्वक अन्तः-पुरसे भी निकाल बाहर कर देते हैं। इसीको कहते हैं लघु पापका गुरु दण्ड ।

ऊपर कहा जा चुका है कि बाल्यकालकी शिक्षामें तो हम भाषा के साथ भाव नहीं पाते और जब वह काल निकल जाता है तब उसका ठीक उलटा होता है, अर्थात् उस समय जब भाव उदित होते हैं तब भाषा नहीं मिलती। इस बातका भी पहले उल्लेख हो चुका है कि भाषा-शिक्षाके साथ ही साथ हमें भाव-शिक्षा नहीं मिलती; इस लिए यूरोपीय भावोंका हमसे निकट-संसर्ग नहीं होता। और इसीसे आज कलके अनेक शिक्षितोंने यूरोपीय भावोंके प्रति अनादर प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया है। इसके सिवा वे भावोंके साथ साथ अपनी मातृभाषासे भी दृढ़ सम्बन्ध नहीं कर सकते। इससे वे मातृभाषासे भी दूर जा पड़े हैं और उसके प्रति उनके हृदयमें एक प्रकारकी अवज्ञा हो गई है। इस बातको तो वे स्पष्ट रूपसे स्वीकार नहीं करते कि हम अपनी मातृभाषा नहीं जानते, किन्तु यह कह कर अपनी दुर्बलताको ढँकते हैं कि "हमारी मातृभाषाके द्वारा क्या हृदयके पूरे पूरे भाव कभी प्रकाशित किये जा सकते हैं ? हम लोगोंके शिक्षित मनोंके कामकी यह भाषा

नहीं।" असल बात यह है कि अंगूरोंको अपनी शक्तिके बाहर समझ कर हम प्रायः उन्हें खट्ट बतला दिया करते और उनकी उपेक्षा किया करते हैं।

चाहे जिस ओरसे और जिस प्रकारसे देखा जाय, यह निर्विवाद है कि हमारे भाव, भाषा और जीवनके बीच सामञ्जस्य नहीं। इन तीनोंकी अखण्ड एकताका सुफल हमें प्राप्त नहीं। एक दरिद्र भिक्षुक था। वह जाड़ोंमें थोड़ी थोड़ी भिक्षा माँग कर जब तक जाड़ोंके वस्त्र खरीदनेको समर्थ होता था तब तक गर्मीके दिन आ जाते थे। और, गर्मीके दिनोंमें चेष्टा करके जब तक वह हलका ग्रीष्मोपयोगी वस्त्र खरीदनेके लिए समर्थ होता था तब तक जाड़ा आ धमकता था! देवताने उसकी यह दुर्दशा देख दयार्द्र होकर जब उसे वर देना चाहा तब उसने कहा—"मैं और कुछ नहीं चाहता; केवल मेरा यह हेर-फेर मिटा दीजिए। मैं जो गर्मीके दिनोंमें जाड़ेके वस्त्र और जाड़ेके दिनोंमें गर्मीके वस्त्र पाता हूँ, इस गड़बड़को यदि आप मिटा दें तो मेरा जीवन सफल हो जाय।"

हमारी भी ईश्वरसे यही प्रार्थना है। भाषा और भावसम्बन्धी यह हेर-फेर मिटते ही हम चरितार्थ हो जाँयगे। हम शीतमें शीत-वस्त्र और ग्रीष्ममें ग्रीष्म-वस्त्र नहीं पाते हैं। इसी लिए हमारी यह सारी दुर्दशा और दरिद्रता है। नहीं तो हमारे पास है क्या नहीं। इस समय हम विधातासे यही वर चाहते हैं कि हमारे लिए केवल क्षुधाके साथ अन्न, शीतके साथ वस्त्र, भावके साथ भाषा और शिक्षाके साथ जीवन एकत्र कर दो—इन्हें जुदा जुदा न रहने दो। इस समय हमारी यह दशा है:—

पानीमें भी मीन पियासी।
सुन कर किसे न आवे हाँसी॥

हमारे पास पानी भी है और प्यास भी है, यह देखकर संसार तो हँस रहा है और हमारी आँखोंसे आँसू टपक रहे हैं। क्योंकि पानी पास रहते भी हम लोग उसे नहीं पी सकते।

शिक्षा-संस्कार।

—:※:—

कुछ समय पहले 'स्पीकर' नामक सुप्रसिद्ध अङ्गरेजी साप्ताहिक पत्रमें आयर्लैण्डके शिक्षा-संस्कारके विषयमें एक बड़ा ही महत्त्वका लेख प्रकाशित हुआ था। भारतवासियोंके लिए उसका निम्नलिखित सारांश बहुत ही विचारणीय है:—

"यूरोपके जिस युगको 'अन्धकारका युग' कहते हैं, जिस समय बर्बरोंके आक्रमणकी आँधीसे रोमका दीपक बुझ गया था उस समय सारे यूरोपमें आयर्लैण्ड ही ऐसा देश था जहाँ विद्याकी चर्चा और ज्ञानकी ज्योति जगमगा रही थी। उस समय यूरोपके विद्यार्थियोंके लिए आयर्लैण्डके विद्यालय ही एक मात्र शरण थे। सातवीं शताब्दिके इतिहाससे मालूम होता है कि वहाँ कई हजार विदेशी विद्यार्थी अध्ययन करते थे और उन सबको स्थान, भोजन तथा पुस्तकें बिना मूल्य दी जाती थीं।

"उस समय यूरोपके बहुतसे देशोंमें विद्या और ईसाई धर्मकी निर्वाणप्राय शिखाको आयरिश पादरियोंने एक बार फिरसे चमका दिया था। आठवीं शताब्दिमें फ्रान्सके राजा शार्लमेनने पेरिस-यूनीवरसिटीकी प्रतिष्ठाका भार आयर्लैण्डके एक क्लेमेन्सर नामक विद्वान्को सौंपा था। इस प्रकारके और भी अनेक दृष्टान्त हैं

"प्राचीन आयरिश विद्यालयोंमें यद्यपि लैटिन, ग्रीक, हिब्रू भाषायें सिखलाई जाती थीं, तथापि वहाँ शिक्षा देनेकी भाषा आयरिश थी। गणित ज्योतिष, फलित ज्योतिष तथा उस समयमें और भी जो जो विज्ञान प्रचलित थे वे सब वहाँ आयरिश भाषाके द्वारा ही सिखलाये जाते थे। इससे उस भाषामें पारिभाषिक शब्दोंकी दरिद्रता न थी—आयरिश भाषामें शब्दसम्पत्ति विपुल थी।

"जब आयर्लैण्ड पर अँगरेजोंने आक्रमण किया, तब इन सब विद्यालयोंमें आग लगा दी गई, हजारों वर्षके संग्रह किये हुए पोथी—पत्र जला दिये गये, और अध्यापक तथा विद्यार्थी हताहत किये गये। किन्तु आयर्लण्डके जो जो स्थान इन सब उत्पातोंसे बचे रहे, और देशी राजाओंके आधीन बने रहे, उन सब स्थानोंके बड़े बड़े विद्यालयोंमें लगभग सोलहवीं शताब्दि तक सारी शिक्षायें बिलकुल आयरिश पद्धतिके अनुसार हो जारी रहीं। इसके बाद जब रानी इलिजबेथके समय युद्ध हुआ और सारी आयरिश-सम्पत्ति लूट ली गई, तब विद्यालयोंके सहित वहाँकी स्वाधीन-विद्या भी नष्ट भ्रष्ट कर दी गई!

"इस तरह आयर्लैण्डनिवासी ज्ञानचर्चासे वञ्चित हो गये और धीरे धीरे उनकी भाषा छोटे दर्जे के लोगोंकी भाषा कहलाने लगी। उनका मातृभाषाका अपमान होने लगा। इसके बाद उन्नीसवीं शताब्दिमें वहाँ 'नेशनल स्कूल' प्रणालीका सूत्रपात हुआ। इस समय यह आवश्यक था कि आयरिश लोग इस प्रणालीके दोष-गुणों पर अच्छी तरह विचार कर लेते; परन्तु ऐसा न हुआ, ज्ञानपिपासु जन इसकी सादर अभ्यर्थना करके अपनी प्यास बुझाने लगे। उस समय वहाँ 'जान मैकहेल' नामका एक विद्वान् था। उसने अवश्य ही इस प्रणालीके विरुद्ध आन्दोलन किया और सर्वसाधारणको समझाया कि इससे हमारा अकल्याण होगा; परन्तु

इसका कुछ भी फल न हुआ।

"नेशनलस्कूल प्रणालीके जारी करनेका उद्देश्य यह था, कि आयरिश लोगोंको बलपूर्वक सैक्सनोंके साँचेमें ढाल कर अँगरेज बना दिया जाय। परन्तु प्रकृतिने भिन्न भिन्न जातियोंको इस तरह भिन्न भिन्न प्रकारसे गढ़ा हैं कि एक जाति दूसरी जाति नहीं बन सकती—यह चेष्टा व्यथ जाती है।

"जिस समय यह शिक्षाप्रणाली जारी की गई, उस समय आयर्लैंण्डके निवासी सौमें अस्सी आदमी आयरिश भाषा बोलते थे। यदि शिक्षा देना ही नेशनल बोर्डका उद्देश्य होता, तो उसे उचित था कि पहले आयरिश विद्यार्थियोंको उनकी मातृभाषामें पढ़ना लिखना सिखलाकर फिर उसी मातृभाषाकी सहायतासे, उन्हें विदेशी भाषाकी शिक्षा देनेकी व्यवस्था करता। किन्तु ऐसा न करके उसने बालकोंको नाना प्रकारके दण्ड देकर मातृभाषाका व्यवहार छोड़ देनेके लिए लाचार किया।

"केवल भाषा ही नहीं, आयरिश इतिहास पढ़ाना भी बन्द कर दिया गया और आयरिश भूवृत्तान्त भी अच्छी तरहसे नहीं सिखलाया जाने लगा। इससे बालक विदेशके इतिहास और भूवृत्तान्त सीखकर अपने देशके विषयमें अनभिज्ञ रहने लगे।

"इसका फल वही हुआ जो होना चाहिए। मानसिक जड़ता सारे देशमें व्याप्त हो गई। बेचारे आयरिश विद्यार्थी बुद्धि और जिज्ञासा लेकर विद्यालयोंमें प्रवेश करने लगे, और कुछ समयमें पंगु मन और ज्ञानके प्रति अरुचि लेकर बाहर निकलने लगे, क्योंकि यह शिक्षाप्रणाली एक प्रकारकी यन्त्र-चालित प्रणाली है, इसका मन पर परिणाम नहीं होता—मन अशिक्षित रह जाता है और बालक तोते बन जाते हैं।

"प्राथमिक शिक्षाके बाद बालकोंको माध्यमिक शिक्षा या

इण्टरमीडियट एज्युकेशनकी सीढ़ी पर चढ़ना पड़ता है। आयर्लैण्ड-में कोई अट्ठासी वष तक इस माध्यमिक शिक्षाकी जाँच की गई। इसका फल यह हुआ कि वहाँ शिक्षा बिलकुल ही दलित होगई। जब परीक्षाफलकी ओर अतिशय लोभ दृष्टि रहती है—परीक्षामें किसी तरह पास करा देना ही जब मुख्य प्रयोजन होजाता है, तब कालेजोंमें वास्तविक शिक्षा देनेकी चेष्टा नहीं होती, केवल घोलकर पिला देनेका ही प्रयत्न किया जाता है। इससे हज़ारों विद्यार्थियोंका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है, और बुद्धि बन्ध्या होजाती है। अधिक परिश्रमसे अकालमें ही उनका मन दुर्बल होजाता है और विद्याके प्रति उनमें अनुराग नहीं रह जाता।

"परन्तु इस अन्यायका प्रतीकार करनेके लिए आयरिश जाति प्रार्थना नहीं करती। वह न तो बिप्लव करना चाहती है और न प्रकृत शिक्षा पानेका स्वत्व प्रकट करनेके लिए उछलकूद ही मचाया चाहती है; वह अपने देशकी शिक्षाका भार अपने आप उठाना चाहती है। इसके खर्चके लिए भी सरकारको अधिक चिन्ता न करनी पड़ेगी—आयरिश लोग स्वयं इसका भार उठानेके लिए तैयार हैं। आयर्लैण्डको शिक्षाके खर्चके लिए जो रकम दी जाती है, वह बहुत ही मामूली है। इंग्लैण्डमें जहाँ पुलिस और अदालतके खर्च-के लिए एक पौण्ड खर्च किया जाता है, वहाँ शिक्षाके लिए आठ पौण्ड अर्थात् अठगुना खर्च किया जाता है। परन्तु आयर्लैण्डमें जहाँ अपराधोंकी संख्या इंग्लैण्डको अपेक्षा बहुत ही कम है—पुलिस और अदालतखर्चकी रकम एक पौण्ड और शिक्षा खर्चकी रकम १३ शिलिंग ४ पेन्स मात्र है!"

यह सच है कि एक देशके साथ दूसरे देशकी पूरी पूरी तुलना नहीं हो सकती, इस लिए यह नहीं कहा जासकता कि आयर्लैण्डकी शिक्षानीति जिस ढंगसे चल रही है, ठीक उसी ढंगसे भारतवर्षमें

भी चल रही है। परन्तु आयर्लैण्डके शिक्षा-सङ्कटकी आलोचना करनेसे मालूम होता है कि एक बहुत ही विचारणीय अंशमें हमारे देशकी और आयर्लैण्डकी दशा बहुत कुछ मिलती जुलती है।

अर्थात् आयर्लैण्डवासियोंके समान हमारे मन पर भी शिक्षाका परिणाम नहीं होता—हमारी शिक्षाप्रणाली भी प्रायः कल या यन्त्र-संचालित है। जिस भाषामें हमें शिक्षा दी जाती है, उस भाषामें प्रवेश करनेमें हमारा बहुत समय लग जाता है और इतने समय तक हमें केवल उसके द्वारके पास खड़े होकर हथौड़ा पीटने और ताला खोलनेकी तरकीबका अभ्यास करते करते ही मर मिटना पड़ता है। हमारे मन तेरह चौदह वर्षकी अवस्थासे ही ज्ञानका प्रकाश और भावका रस ग्रहण करनेके लिए प्रस्फुटित होने लगते हैं। उसी समय यदि उनके ऊपर विदेशी भाषाके व्याकरणकी और रटन्तविद्याकी शिलावृष्टि शुरू कर दी जाय तो बतलाइए वे पुष्ट और बलवान् कैसे हो सकते हैं? प्रायः बीस वर्षकी अवस्था तक जब हम निरन्तर सिरपच्ची करते हैं तब कहीं बड़ी कठिनाईसे अँगरेजी भाषा पर अपना अधिकार जमा पाते हैं। किन्तु सोचिए तो सही, इतने दिनोंतक हमारा मन कौनसी खुराक पाकर जीता रहता है, हम क्या सोच पाते हैं, हमारा हृदय कौन सा रस खींचता रहता है और हमारी कल्पनावृत्ति सृष्टिकार्यचर्चाके लिए कौनसे उपकरण या साधन प्राप्त कर पाती है? धारणा शक्ति या स्मरणशक्ति तभी पक्की होती है, जब हम जो कुछ ग्रहण करें या सीखें, उसे साथ ही साथ प्रकाशित भी करते रहें, परन्तु हमारी शिक्षाके समय यह बात नहीं होती। क्योंकि पराई भाषाका ग्रहण करना भी कठिन है। प्रकाशित करना भी कठिन है इस तरह प्रकाशित करनेका अभ्यास न रहनेसे हम जो कुछ पढ़ते-लिखते हैं, उस पर हमारा दृढ़ अधिकार नहीं होने पाता। केवल हम 'पास होनेकीकुञ्जी' रट-रटाकर पढ़ने लिखनेका काम निका-

ला करते हैं। यदि कहो कि आगे अवस्था पकने पर हम अपनी इस त्रुटि-को पूरी कर सकेंगे, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि जिस उमरमें मन बहुत पक जाता है, उस उमरका लाभ वास्तिविक लाभ नहीं कहा जा सकता। कच्ची अवस्थामें मन अज्ञात भावसे बिना जाने अपना खाद्य खींचा करता है। उस समय वह ज्ञान और भावको अपने रक्त-मांसके साथ अच्छीं तरहसे मिलाकर अपनेको सजीव और समर्थ बना रखता है। किन्तु हमारा यही बहुमूल्य समय शस्यशून्य, ऊसर और नीरस मैदानमें मार दिया जाता है। इस रेतीले मैदानमें हमारी बुद्धिका और स्वास्थ्य का कितना घात किया गया है, इसका हिसाब कौन रखता है।

यह हमें अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि वर्तमान शिक्षाप्रणालीसे हमारा मन अपरिणत और अपरिपक्व रह जाता है, हमारी बुद्धिका यथेष्ट विकाश नहीं होने पाता। इससे हमारा पाण्डित्य बहुत ही थोड़ी दूरतक आगे बढ़ता है, हमारी उद्भावना शक्ति या आविष्कारिका शक्ति अन्त तक नहीं पहुँचती और हमारी धारणाशक्तिमें बलिष्ठता नहीं आती। इससे हमारी विचारहीनता और छात्रावस्थाकी क्षीणता बराबर बनी ही रहती है। हम नकल करते हैं, नजीरें खोजते हैं और जिन्हें बतलाते हैं कि ये हमारे स्वाधीन मत हैं वे या तो किसी रटन्त विद्याकी प्रतिध्वनि स्वरूप होते हैं या बच्चोंके खेल जैसे होते हैं। या तो हम मानसिक भीरुताके वश दूसरोंके पद चिन्हों परसे चलते हैं। या अज्ञताकी धुनमें ऊटपटाँग चलते है। किन्तु हम यह किसी तरह स्वीकार नहीं करते कि हमारी बुद्धिमें एक तरहकी स्वाभाविक कमजोरी और तुच्छता है। हमारी शिक्षा-प्रणालीमें जो इस तरहकी बड़ी बड़ी त्रुटियाँ हैं। उनके होते हुए भी हम जो थोड़े समयमें अपना मस्तक ऊँचा उठा सके हैं यह हमारी निजकी महिमा है—इसका यश शिक्षा-प्रणालीको नहीं मिल सकता।

एक बात और है। यदि शिक्षा देनेके उद्देश्यके साथ साथ भीतर ही भीतर कोई दूसरा उद्देश्य भी रहता है तो उससे विकार होता है और हानि होती है। आयरिश लोगोंको शिक्षा देनेके उद्देश्यके साथ जो उनको सैक्सन बनानेकी भी चेष्टा मिली हुई थी उससे उनकी शिक्षा ही मिट्टीमें मिल गई। हमारी गवर्नमेण्ट भी हमारी शिक्षामें अपना पोलिटिकल मतलब सिद्ध करनेकी चेष्टा किया करती है। इसका समझना कठिन नहीं, बहुत ही सरल है। शिक्षाके कार्यमें भी देशी लोगोंकी स्वाधीनता हर तरहसे कम करनेका कारण यही है कि शिक्षाको वह शासनविभागके भीतर कर लेना चाहती है। इसी लिए शिक्षाविभागसे अनभिज्ञ डायरेक्टरों द्वारा परीक्षित, अनभिज्ञ मैकमिलन कम्पनी द्वारा रचित, अतिशय संकीर्ण, अतिशय दरिद्र और विकृत पाठ्य पुस्तकें (देशी भाषाओंकी) प्रकाशित होती हैं और उन्हें पढ़कर ही हमारे बालकोंको मनुष्य बनना पड़ता है। हमारे विद्यालयोंकी पुस्तकें इस ढंगसे प्रस्तुत और निर्वाचित होती हैं कि उनसे निरपेक्ष और उदार ज्ञानचर्चा पोलिटिकल प्रयोजनकी सिद्धिके आगे खण्डित हो जाती है।

केवल यही नहीं। डिसिप्लिनके (शासनके) यन्त्रको जितना घुमानेसे बालक संयत होते हैं उसकी अपेक्षा अधिक घुमानेकी चेष्टा की जाती है, इससे वे निःसत्व किये जाते हैं। बालकोंमें जो बालोचित चञ्चलता होती है। वह स्वाभाविक और स्वास्थ्यकर होती है। इस बातको अँगरेज लोग कमसे कम अपने देशके बालकोंके सम्बन्धमें अच्छी तरहसे समझते हैं। वे जानते हैं कि इस चञ्चलताको दमन न करके यदि नियमित करके पुष्ट किया जाय तो एक दिन यही चरित और बुद्धिको बलिष्ट करती है। इस चञ्चलताको बिलकुल दलित कर देना ही कायरता बढ़ानेका प्रधान

उपाय है। जो बालकोंके सच्चे हितैषी हैं, वे मानते हैं कि इस चञ्चलताके उत्पन्न करनेमें प्रकृति का एक बहुत ही कल्याणकारी उद्देश्य है, वे इसे उपद्रव नहीं समझते। इसी लिए जो विद्वान् हैं वे बालोचित चंचलताके नाना प्रकारके उपद्रवोंको स्नेहदृष्टिसे देखते हैं—उन्हें दबा देनेका प्रयत्न नहीं करते। इंग्लैण्डमें लोगोंके इस क्षमागुणको—बालकोंके उपद्रवोंसे अशान्त न होनेकी—खूब ही चर्चा है। अर्थात् वहाँ पर यह गुण बहुत अच्छा समझा जाता है-इतना कि हमें जरूरतसे भी अधिक जान पड़ता है।

जो स्वयं सोच सकें, स्वयं अनुसंधान कर सकें और स्वयं काम कर सकें, इस प्रकारके मनुष्य तैयार करनेकी प्रणाली दूसरी है और जो दूसरोंकी हाँ में हाँ मिलाते रहें, दूसरोंके विचारोंका प्रतिवाद न कर सकें और केवल दूसरोंके काम चलाऊ बन कर रहें, इस प्रकारके मनुष्य बनानेकी प्रणाली दूसरी है। यह कहनेकी तो जरूरत ही नहीं कि हम स्वभावसे ही स्वजातिको स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके लिए प्रस्तुत करनेकी इच्छा करेंगे; हमारी इस प्रकारकी इच्छा अस्वाभाविक नहीं है। इंग्लैण्डके जब सुदिन थे, तब वह भी किसी जातिकी इस स्वाभाविक इच्छामें व्याघात नहीं डालना चाहता था। भारतकी शिक्षानीतिके सम्बन्धमें लार्ड मेकालेने जो मन्तव्य प्रकाशित किया था, वह इस बातका बड़ा भारी प्रमाण है। परन्तु अब समय बदला है—इसी लिए शिक्षाके आदर्शके विषयमें हमारी गवर्नमेण्टके साथ स्वदेशभक्तों का विरोध खड़ा हो गया है। हम चाहते हैं उपरिलिखित पहले ढँगकी शिक्षाप्रणालीको और सरकार जारी रखना चाहती है, दूसरे ढंगकी प्रणालीको। परन्तु हम अपने देशमें इन स्कूलों और कालेजोके द्वारा तावेदारी या गुलामीको चिरस्थायी बना देनेके लिए किसी तरह राजी नहीं हो सकते। इस लिए अब समय आगया है कि शिक्षाप्रणाली एक

बार ठीक ठीक निश्चित हो जाय और वह प्रजाके अधीन हो।

इस बातको हम नहीं मानते कि गवर्नमेंट द्वारा प्रतिष्ठित सेनेट या सिण्डिकेटमें भारतवासियोंके रहनेसे ही शिक्षाका कार्य हमारे हाथ आ गया। गवर्नमेंटका उत्तरदायित्व हमारे या सेनेटके इने गिने मेम्बरोंके समक्ष न रह कर सारे देशवासियोंके समक्ष रहना चाहिए। जब हम लोग गवर्नमेण्टकी सम्मतिकी अधीनतामें, बाहरी स्वतंत्रताकी एक विडम्बना प्राप्त करते हैं—अर्थात् जब हम वास्तव में नही किन्तु कहने सुननेके लिए स्वतंत्र बनाये जाते हैं, तब हमारी विपत्ति सबसे अधिक हो जाती है। उस समय हमें इस प्रसादलब्ध झूठी स्वतंत्रताका जो मूल्य देना पड़ता है वह बहुत अधिक होता है—उससे माथा बिक जाता है। विशेषतः देशी लोगोंके द्वारा ही देशके कल्याणका कुचलवा देना गवर्नमेण्टके लिए जरा भी कठिन नहीं है। यदि ऐसा न होता, तो इस देशकी दुर्गति ही क्यों होती। अतएव यदि हमारा लक्ष्य नौकरीके नहीं किन्तु मनुष्यत्वके अधिकारी बननेकी ओर हो, तो इस विषयमें सन्देह नहीं कि अब शिक्षाविषयक सम्पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करनेकी चेष्टाके दिन आगये हैं। यह अच्छी तरहसे समझ रखना चाहिए कि यदि हम देशवासियोंको बचपनसे ही मनुष्य बनानेका सदुपाय न ढूँढ़ेंगे और इसके लिए हम स्वयं उद्योग न करेंगे, तो हमारा सब प्रकारसे विनाश होगा—हम भूखों मरेंगे, स्वास्थ्य नष्ट करके मरेंगे, बुद्धिहीन होकर मरेंगे और चरित्रकी ओरसे भी मर जायँगे, यह निश्चय है। वास्तवमें देखा जाय तो हम प्रतिदिन ही मर रहे हैं; परन्तु इसके प्रतीकारकी कुछ भी चेष्टा हमसे नहीं होती, इसका विचार भी यथार्थ रूपसे हमारे मनमें उत्पन्न नहीं होता। जब तक हम बचपन से ही वास्तविक शिक्षा देनेका प्रयत्न न करेंगे, तब तक यह अतिशय मूर्खतासे घिरा हुआ निरुद्यम और चरित्रबिकार और किसी

भी उपायसे दूर नहीं होगा ।

महर्षि टाल्सटायने रशियाकी शिक्षानीतिके सम्बन्धमें एक बार जो वाक्य कहे थे, उन्हें यहाँ उद्धृत करके हम इस लेखको समाप्त करते हैं:—

It seems to me that it is now specially important to do what is right quickly and persistently, not duly without asking permission from Government but consciously avoiding its participation. The strength of the Government lies in the people's ignorance, and the Government knows this, and will therefore always oppose true enlightenment. It is time we realized that fact and it is most undesirable to let the Government while it is spreading darkness, pretend to be busy with the enlightenment of the people. It is doing this now by means of all sorts of pseudo-educational establishment which it controls: Schools, High Schools, Universities, academies, and all kinds of committees and congresses. But good is good and enlightenment only, when it is quite good and quite enlightment and not when it is toned down to meet the requirements of Delyanof's or Dournovo's circulars. And I am extremely sorry when I see valuable, disinterested, and self-sacrificing efforts spent unprofitable. It is strange to see good, wise people spending their sttesgth

(strength) in a struggle against the Government, but carrying on this struggle on the basis of whatever laws the Government itself likes to make.

अर्थात् जो कुछ उचित है, उसे मेरी समझमें शीघ्र कर डालना ही अच्छा है। इसके लिए सरकारसे आज्ञा माँगनेकी कोई आवश्यकता नहीं; बल्कि अच्छा हो यदि सरकार इस काममें शरीक ही न हो। प्रजाके अज्ञान होनेसे ही सरकार बलवान् समझी जाती है। सरकार भी इस बातको जानती है और इसी लिए वह प्रजामें सच्चे ज्ञानके फैलानेका विरोध करती है। अब हमें भी इस बातको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि प्रजामें ज्ञानके प्रकाशको फैलानेका बहाना करके सरकार अज्ञानान्धकार बढ़ानेका काम करती है और उसके इस कामको अवश्य रोकना चाहिए। वह स्कूल, हाईस्कूल, विश्वविद्यालय, विद्यापीठ, और कमेटी कांग्रेस आदि शिक्षाप्रचारकी सारी दिखाऊ संस्थाओंको खोलकर अब भी वही बहानेबाजी कर रही है। भला तभी भला है, ज्ञान तभी ज्ञान है, जब वह पूरा पूरा और सच्चा हो। किन्तु यदि डिलेनाफ या डोरनोवो अपनी आवश्यकताके अनुसार सच्ची भलाई और ज्ञानके प्रकाशमें कुछ कतरब्योंत कर डालें तो वह न तो सच्ची भलाई है और न सच्चा ज्ञान। मैं जब कभी बहुमूल्य, निःस्वार्थ और आत्मबलिदान पूर्ण उद्योगको नष्ट होते देखता हूँ तब मुझे सचमुच ही बड़ा दुःख होता है। यह देखकर बहुत ही आश्चर्य होता है कि लोग सरकारका सामना करनेमें उन्हीं कानूनोंको आधार मानते हैं जो उसी सरकारके बनाये हुए हैं।

छात्रोंसे संभाषण ।

—:❀:—

आजसे लगभग ५० वर्ष पहले एक समय ऐसा था, जब हम लोगोंको अँगरेजी स्कूलोंसे बिलकुल ही छुट्टी नहीं थी । हम स्कूल छोड़कर घर आ जाते थे, तो भी स्कूल हमारे पीछे लगा रहता था—साथ साथ चला आता था । उस समय हम अपने भाईबंधुओंसे भी बातचीत करते थे अँगरेजीमें, पिताको भी पत्र लिखते थे अँगरेजीमें, मनकी बातें कहते थे अंगरेजी काव्यमें और देशके लोगोंको सभामें बुलाते थे अँगरेजी-स्पीच झाड़कर । परन्तु अब हम इस स्कूलसे सर्वथा नहीं तो थोड़ी थोड़ी छुट्टी अवश्य पा रहे हैं । अब प्रश्न यह है कि उस छुट्टीके समयमें हम आनन्द कहाँ जाकर करें ? क्या हम अपनी माताके अन्तःपुरमें जाकर आनन्द नहीं कर सकते ? दिनका पढ़ना-लिखना तो समाप्त हो गया और उसके बाद क्रिकेटके खेलमें भी समझ लीजिए कि हम प्रवीण 'रणजीत' बन गये । पर इसके बाद ? इसके बाद क्या हमारी आँख घरकी खिड़कीमेंसे माताके स्वहस्तज्वालित सन्ध्या-दीपक पर न पड़ेगी ? यदि पड़ गई तो क्या हम अवज्ञा करके यह कह देंगे कि वह मिट्टीका दीया है, इस लिए कामका नहीं है ? क्या इस मिट्टीके दीयेके पीछे हमारी माताका गौरव छुपा हुआ नहीं है ? और यदि वह दीया मिट्टीका है तो इसमें दोष किसका है ? माताके उस कमरेमें सोनेका दीया गढ़कर रखनेके लिए हमें किसने रोका है ? चाहे जैसा हो, मिट्टीका हो, या सोनेका हो; जब आनन्दका समय आयेगा, तब इस जगह ही हमारा उत्सव होगा । जब दुःखका अन्धकार सघन हो जाता है तब राजमार्ग पर खड़े होकर

आँसू नहीं बहाये जाते, उस समय अपने इस घरके सिवाय और कोई गति ही नहीं रहती।

यहाँ हम सब लोग उस स्कूलसे वापस आये हैं और साहित्य-परिषत्के बुलाये हुए आये हैं। यह स्थान कालेज-क्लाससे दूर और क्रिकेटके मैदानकी सीमासे बाहर है। यहाँ हमारी दरिद्र माताका सन्ध्यासमयका मिट्टीका दीया ही जलता है।

परीक्षाशालासे तुम लोग हाल ही आये हो, इस लिए तुम सबको घरकी बात स्मरण करा देनेका यथार्थ अवकाश आज ही उपस्थित हुआ है और इसी लिए बंगवाणीके द्वारा बंगसाहित्यपरिषत्ने आज तुम सबको बुलाया है।

कालेजके बाहर जो विशाल देश पड़ा हुआ है, उसका महत्त्व बिलकल ही भुला देनेसे काम न चलेगा, कालेजकी शिक्षाके साथ देशका एक स्वाभाविक सम्बन्ध जोड़ना होगा।

अन्य देशोंमें यह सम्बन्ध चेष्टा करके—ख़ास तौरसे प्रयत्न करके नहीं जोड़ा जाता। उन सब देशोंके कालेज उन देशोंके ही एक एक अंग हैं। उन्हें समस्त देशकी आभ्यन्तरिक प्रकृतिने गठित करके खड़ा किया है, इस लिए देशके और उनके बीचमें विच्छेद-की रेखा कहीं भी नहीं दिखलाई देती। परन्तु हमारे कालेजोंके साथ हमारे देशकी ऐसी अच्छी एकता नहीं हुई है जिसमें विच्छेद या भेदका चिन्ह भी न दिखलाई दे।

ऐसी दशामें हमारे सामने बहुत ही विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या किया जाय जिससे हम विदेशी-चालित कालेजोंकी शिक्षा-के साथ साथ छात्रोंको एक स्वाधीन शिक्षामें लगाकर शिक्षाकार्य-को यथार्थ रूपसे सम्पूर्ण कर सकें। यदि हम ऐसा न कर सकेंगे तो शिक्षाको किसी भी तरह पुस्तकोंकी परिधिसे बाहर न ला सकेंगे।

जहाँ पर तरह तरहकी आलोचनायें और तरह तरहके वाद-

प्रतिवाद होकर पाठ्य विषय प्रस्तुत किये जाते हैं और जहाँ वे लोग शिक्षा देते हैं जो आविष्कार करते हैं, सृष्टि करते हैं, और प्रकाश करते हैं, वहाँ शिक्षा जड़शिक्षा नहीं रहती । वहाँ छात्रगण केवल पठित विषयोंको ही प्राप्त नहीं करते हैं; नहीं, उनके साथ देखनेकी शक्ति, मनन करनेका उद्यम और रचनाका उत्साह भी पाते हैं । ऐसी अवस्थामें पुस्तकगत विद्याका असह्य अत्याचार नहीं सहना पड़ता और ग्रन्थोंसे जितना ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, केवल उसीके बीचमें कैद नहीं रहना पड़ता ।

हमारे देशमें भी आवश्यकता है कि पुस्तकको मनका राजा न बनाकर मनको पुस्तकके ऊपर आधिपत्य देनेका प्रयत्न कुछ विशेष विचार और विशेष उद्योगके साथ किया जाय । इस कामके लिए हम साहित्यपरिषत्से खास तौरसे अनुरोध करते हैं । उसे बंगाली छात्रोंके लिए स्वाधीन शिक्षाका एक ऐसा क्षेत्र खोल देना चाहिए, जिस क्षेत्रमें कि वे अपनी शक्तिको और बुद्धिको आजमा सकें और अपने कर्तृत्वका अनुभव करके चित्तवृत्तिको स्फूर्ति दे सकें ।

बंगदेशका साहित्य, इतिहास, भाषातत्व, लोकविवरण आदि जो कुछ हमारे लिए ज्ञातव्य है वह समस्त ही बंगीय साहित्य-परिषत्के अनुसन्धान और आलोचनाका विषय है । देशके इस समस्त वृत्तान्तको जाननेकी उत्सुकताका होना हमारे लिए स्वाभाविक था, किन्तु उसके न होनेका कारण यह है कि हम बचपनहीसे अँगरेजी स्कूलोंकी पाठ्यपुस्तकें,—जो अँगरेजोंके बच्चोंके लिए रची जाती हैं,—पढ़ते आ रहे हैं और इससे हमारा देश हमारे लिए अस्पष्ट और औरोंके देशकी चीजें हमारे लिए अधिकतर सुस्पष्टसी हो रही हैं ।

पर इसके लिए किसीको भी दोष नहीं दिया जाता । अभी तक हमारे देशका वास्तविक विवरण तैयार नहीं हुआ है । इसलिए

यद्यपि हम लोग स्वदेशमें वास करते हैं, तथापि स्वदेश हमारे ज्ञान के निकट सबसे क्षुद्र हो रहा है।

इस तरह स्वदेशको प्रधानता और सम्पूर्णतासे अपने ज्ञानगत न कर सकनेसे एक बड़ी भारी हानि यह हो रही है कि स्वदेशकी सेवा करनेके लिए हममेंसे कोई भी जैसा चाहिए वैसा योग्य नहीं बन सकता। एक बात और है और वह यह कि जब ज्ञानशिक्षा निकटसे दूर और परिचितसे अपरिचितकी ओर जाती है तभी उसकी भीत पक्की हो सकती है। जो वस्तु हमारे चारों ओर नहीं फैली है और जो हमारे सम्मुख उपस्थित नहीं है, यदि हमारी ज्ञानचर्चा प्रधानतया उसीका अवलम्बन करके ही होती हो, तो हमारा वह ज्ञान अवश्य दुर्बल होगा। जो परिचित है, उसको सम्पूर्ण रूपसे—यथार्थ भावसे—आयत्त करना सीखनेसे ही, जो अप्रत्यक्ष और अपरिचित है उसको ग्रहण करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है।

हमारे विदेशी गुरु प्रायः ही हम पर ताना मारते हुए कहा करते हैं कि तुम लोग हमारे स्कूलों कालेजोंमें इतने दिनों तक इतना बहुत सा पढ़े; किन्तु तुममें उद्भावना शक्तिका—आविष्कारिणी प्रतिभाका—जन्म नहीं हुआ, थोड़ी बहुत विद्या रटकर मुखस्थ या कंठस्थ करनेके सिवाय तुमने और किया ही क्या है?

यदि हम पर उनका यह अपवाद लगाना सत्य हो, तो इसका प्रधान कारण यह है कि हमें वस्तु और पुस्तकको साथ मिलाकर सीखनेका मौका नहीं दिया जाता है। हमारी शिक्षाका अधिक भाग जिन सब दृष्टान्तोंका आश्रय लेता है, वे हमारी नजरके सामने ही कभी नहीं आते। हम इतिहास पढ़ते हैं—किन्तु जो इतिहास हमारे देशके जन-प्रवाहको अवलम्बन करके बना है, जिसके अनेक चिन्ह और अनेक स्मृतियाँ हमारे घरोंमें और बाहर नाना

स्थानोंमें प्रत्यक्ष हो रही हैं, उसकी आलोचना हम नहीं करते और इस लिए हमें इतिहास नामक पदार्थकी उज्ज्वल और स्पष्ट धारणा हो ही नहीं सकती। हम भाषातत्व मुखस्थ करके परीक्षामें उच्चस्थान पा लेते हैं, किन्तु हमारी निजकी मातृभाषाने समय समय पर, जुदे जुदे प्रदेशोंमें, किस किस तरह नाना रूपान्तरोंमें-से अपने इतिहासको प्रत्यक्ष प्रस्तुत कर रक्खा है, उसे हम नहीं देख सकते और इसी लिए भाषारहस्य हमारी बुद्धिमें सुस्पष्ट रूपसे नहीं झलकता। हमारे भारतवर्षमें समाज और धर्मसम्बन्धी जितने अधिक अवस्थावैचित्र्य दिखलाई देते हैं, उतने और किसी देशमें नहीं हैं। यदि हम लोग अनुसन्धानपूर्वक और अभिनिवेशपूर्वक इन सब विचित्रताओंकी आलोचना करें, तो समाजविज्ञान और धर्मविज्ञान हमारे निकट जैसे प्रकाशमान हो उठेंगे, वैसे, दूरदेशों-के धर्म और समाजसम्बन्धी ग्रन्थोंके पढ़ लेने मात्रसे नहीं हो सकते।

धारणा जब अस्पष्ट और दुर्बल रहती है, तब उद्भावना शक्ति-की अर्थात् कोई नई बात प्रकट करनेवाली प्रतिभाकी आशा नहीं की जा सकती; बल्कि उस समयकी समस्त उद्भावना एक अवास्त-विक और अद्भुत आकार धारण कर लेती है। यही कारण है जो हम पुस्तकोंके द्वारा इतिहास सीखकर भी ऐतिहासिक विचारोंको अच्छा तरह आयत्त नहीं कर सकते हैं, पुस्तकोंके द्वारा विज्ञान सीखकर भी अभूतपूर्व काल्पनिकताको विज्ञान कहकर चलाते हैं और धर्म, समाज, यहाँ तक कि साहित्यसमालोचनाको भी अच्छी तरह अवगत नहीं कर सकते हैं।

वास्तविकतासे रहित होनेके कारण हमारा मन, हमारा हृदय और हमारी कल्पना, सभी कुछ कृश और विकृत हो जाते हैं। हमारे यहाँके देशहितैषी लोग इसके प्रमाण हैं। देशके लोगोंके

हितके साथ इन हितैषियोंका सम्बन्ध नहीं है। देशके लोग रोगोंसे मर रहे हैं, दारिद्र्यसे जीर्ण हो रहे हैं और अशिक्षा तथा कुशिक्षासे नष्ट हो रहे हैं। इसका प्रतीकार करनेके लिए जो लोग जरासी भी चेष्टा करनेके लिए प्रवृत्त नहीं होते हैं वे लोग कल्पना करते हैं कि हमने विदेशी साहित्य और इतिहासके पुस्तकगत 'पेट्रियटिज्म' को नानाप्रकारके असंगत अनुकरणों द्वारा प्राप्त कर लिया है। इसी लिए, इतना समय बीत गया तो भी यह 'पेट्रियटिज्म' हम लोगों-को वास्तवमें किसी प्रकारका त्याग स्वीकार करनेके लिए प्रवृत्त नहीं करा सका। जिस देशमें पेट्रियटिज्म अवास्तव नहीं है, पुस्तकगत अनुकरणमूलक नहीं है, वहाँके लोग देशके लिए अनायास ही प्राण दे देते हैं, परन्तु हम लोग सामान्य धन नहीं दे सकते, समय नहीं दे सकते और हमारा देश कैसा है, इसे अनुसन्धानपूर्वक जाननेका उत्साह भी प्रकट नहीं कर सकते। योशिदा-तोराजिरो जापानका एक विख्यात पेट्रियट था। वह अपनी पहली अवस्थामें चावल-चिवड़े बाँधकर सारे देशमें गाँव गाँव और नगर नगरमें पैदल घूमता फिरा और इस तरह सारे देशकी रगरग जान लेने पर वह छात्र पढ़ानेके काम पर नियुक्त हुआ। अन्तमें उसने अपने देशके लिए हँसते हँसते प्राण दे दिये। पेट्रियटिज्मका अर्थ इस तरह समझा जाता है। देशके वास्तविक ज्ञान और देशके वास्तविक कार्यके ऊपर जब देशहितैषिता प्रतिष्ठित होती है, तभी वह मिट्टीमें बद्धमूल हुए वृक्षके समान फलदायक होती है।

अतएव यदि यह बात सच है कि प्रत्यक्ष वस्तुके संस्रवके विना जो ज्ञान, भाव या चरित्र गढ़ा जाता है वह निर्जीव और निष्फल होता है, तो इस बातकी बहुत बड़ी आवश्यकता है कि हम अपने छात्रोंको शिक्षाकी इस निष्फलतासे बचानेकी शक्ति भर कोशिश । करें

बंगालकी भाषा, साहित्य, इतिहास, समाजतत्त्व आदि विषयों को बंगीय साहित्यपरिषत्ने अपने आलोच्य विषय बनाये हैं। परिषत्से हमारा यह निवेदन है कि इस आलोचनाके कार्यमें वह छात्रोंको आमंत्रित करे। ऐसा करनेसे प्रत्यक्ष वस्तुके सम्पर्कसे छात्रोंकी वीक्षणशक्ति और मननशक्ति सबल हो जायगी और इस-तरह अपने आसपासको, अपने देशको अच्छी तरह जाननेका अभ्यास हो जानेसे उनके हृदयमें अन्य सब कुछ जाननेकी सच्ची नीव पड़ जायगी। इसके सिवाय हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि अपने देशको अच्छी तरह जाननेका प्रयत्न करना सच्चे देशप्रेम का एक प्रधान अंग है।

बंगालमें ऐसा एक भी जिला नहीं है, जहाँसे कलकत्तेमें छात्र न आते हों। देशके समस्त वृत्तान्तको संग्रह करनेके काममें यदि इनकी सहायता मिल जाय तो साहित्यपरिषत् सार्थक हो जाय। यह सहायता कैसी होनी चाहिए और इसकी कितनी आवश्यकता है, इस विषयमें यहाँ दो एक दृष्टान्त उपस्थित किये जाते हैं।

बंगलाभाषाके एक सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरणकी रचना करना साहि-त्यपरिषत्का एक मुख्य कार्य है। परन्तु यह कार्य सहज नहीं है। इस व्याकरणके उपकरणोंका संग्रह करना बहुत ही दुरूह कार्य है। बंगालके भिन्न भिन्न भागोंमें जितनी उपभाषायें प्रचलित हैं उन उन सबका तुलनागत व्याकरण ही बंगलाका सच्चा वैज्ञानिक व्या-करण होगा। हमारे छात्रगण यदि चाहें तो उनके द्वारा इन विचित्र उपभाषाओंके उपकरण सहज ही संग्रह हो सकते हैं।

बंगालमें ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है जहाँ जगह जगह निम्न-श्रेणीके लोगोंमें नये नये धर्मसम्प्रदायोंकी सृष्टि नही होती है। परन्तु शिक्षित लोग इन सबके विषयमें कुछ भी नहीं जानते। वे यह बात सोचते भी नहीं हैं कि एक बड़ा भारी जनसम्प्रदाय

अलक्ष्य गतिसे बिना किसी तरहकी आहट किये हुए चल रहा है। यदि हम लोग अवज्ञा करके उसकी ओर नहीं देखते है, तो क्या वह हमारे दृष्टिपातके लिए स्थिर होकर बैठा रहेगा? नहीं, नये जमानेकी नई शक्ति उसके बीचमें परिवर्तनका काम बराबर कर रही है। वह परिवर्तन किस रास्ते जा रहा है और कौन कौन रूप धारण कर रहा है, इसे जाने बिना देशका जानना नहीं होता। यह हम नहीं कहते कि केवल देशको जान लेना ही अन्तिम लक्ष्य है; परन्तु यह अवश्य कहेंगे कि चाहे जिस जगह हो, जनसाधारणमें, जो कुछ क्रियायें और प्रतिक्रियायें चलती हैं, उन्हें अच्छी तरह जानने में हो एक बड़ी भारी सार्थकता है और पुस्तकको छोड़कर सजीव मनुष्यको प्रत्यक्ष पढ़नेकी चेष्टा करनेमें ही एक शिक्षा है। उससे केवल जानना ही नहीं होता किन्तु जाननेकी शक्तिका एक ऐसा विकाश होता है जो किसी भी क्लासमें पढ़नेसे नहीं हो सकता। परिषत्की अधिनायकतामें यदि छात्रगण अपने अपने प्रदेशके निम्नश्रेणीके लोगोंके धर्मसम्प्रदायोंका विवरण संग्रह करके लासकें, तो चित्त लगाकर मनुष्यके प्रति दृष्टिपात करनेकी जो एक शिक्षा है उसे तो वे प्राप्त करगे ही, साथ ही देशका भी काम कर सकेंगे।

हम लोग नृतत्त्व अर्थात् Ethnology के ग्रन्थ न पढ़ते हों, सो बात नहीं है, किन्तु जब हम देखते हैं कि ग्रन्थ पढ़नेके कारण हमारे घरोंके निकट जो चमार, धीवर, पोद-बाग्दी आदि रहते हैं उनका पूरा परिचय पानेके लिए हमारे हृदयमें जरा भी उत्सुकता उत्पन्न नहीं होती है, तब अच्छी तरह समझमें आजाता है कि पुस्तकोंके सम्बन्धमें हमें कितना औंधा विश्वास हो गया है—पुस्तकोंको हम कितना बड़ा समझते हैं और पुस्तकें जिनकी छाया हैं, उनको कितना तुच्छ जानते हैं। किन्तु ज्ञानके उस आदि मन्दिरमें—पुस्तकें जिसकी छाया हैं उसमें—यदि हम एक बार भी जडत्व

त्याग करके प्रवेश करेंगे, तो फिर हमारी उत्सुकताकी सीमा न रहेगी। हमारे छात्रगण यदि अपने इन सब पड़ोसियोंकी खोज करनेके लिए अच्छी तरह लग जायँगे, तो इस कार्यके भीतर ही उन्हें उनके श्रमका पुरस्कार मिल जायगा, इसमें सन्देह नहीं है।

खोज करनेके और संग्रह करनेके विषय इतने अधिक हैं कि उनकी गणना नहीं की जा सकती। हमारे व्रत, पर्व, त्योहार आदि बंगालके एक भागमें जिस रूपमें प्रचलित हैं, दूसरे भागोंमें उस रूपमें नहीं पाये जाते। सामाजिक रीति-रवाजोंमें भी स्थानभेदसे बहुतसी भिन्नतायें पाई जाती हैं। इनके सिवाय ग्रामीण गीत, बच्चों को बहलानेके गीत, प्रचलित गान आदिके भीतर न जाने कितनी जानने योग्य बातें भरी हुई हैं। वास्तवमें देखा जाय तो देशवासी के लिए देशका कोई भी वृत्तान्त तुच्छ नहीं है और यह समझकर ही साहित्यपरिषत्ने अपना कर्तव्य निश्चित किया है।

साहित्यपरिषत्ने हमारा यह अनुरोध मान लिया है कि परिषत् छात्रोंको अपने कामकाजमें सहायताके लिए बुलायगी और इसी लिए आजकी सभामें मैंने छात्रोंको आमंत्रित करनेका भार अपने ऊपर लिया है। इस कार्यमें प्रवृत्त होनेके समय हमें अपनी तरुणावस्थाकी बातें याद आ रही हैं।

यद्यपि हमारी तरुणावस्थाका समय कोई बहुत पुराना समय नहीं है; किन्तु उन दिनोंके और इन दिनोंके बीचमें हम एक ऐसा परिवर्तन देखते हैं कि वह अदूरवर्ती समय एक युगान्तर सा जान पड़ता है। यह परिवर्तन हम अपनी अवस्था (उम्र) के दोषसे देख रहे है, अथवा सचमुच ही हो गया है, यह एक विचारणीय विषय है। जरा उम्र अधिक हुई कि बूढ़े पुराने लोग अपने समय के साथ वर्तमानकी तुलना करके इसे बुरा भला कहनेको बैठ जाते हैं। इसका एक कारण है। वह समय उनकी आशा करनेका समय

था और यह समय उनका हिसाब समझनेका समय है। वे भूल जाते हैं कि इस समयके युवक भी आशा करके जीवनका आरम्भ करते हैं। इस समय वे आँखों पर चश्मा चढ़ा कर हिसाब मिटानेके लिए नहीं बैठे हैं। अतएव हम लोग अपने उन दिनोंके समयके साथ आज कलके समयका जो अन्तर देख रहे हैं, वह वास्तविक है या नहीं, इसका विचार करनेवाला केवल मैं ही नहीं हो सकता, तुम लोगोंको भी विचार करके देखना होगा।

निश्चयपूर्वक तो नहीं कहा जा सकता; परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि आजकलके बच्चोंकी अपेक्षा हम लोग बहुत अधिक बच्चे थे। वह अधिक बचपन अच्छा था या बुरा, इसके तो दोनों ही पक्षोंमें बहुत कुछ कहा जा सकता है; किन्तु वैसे बच्चे रहनेका एक गुण यह था कि हमारी आशाओंका अन्त नहीं था, अपने नेत्रोंसे हम जो कुछ देखते थे उसमें हमें कुछ भी असाध्य या असंभव नहीं जान पड़ता था। उस समय हमने ऐसी अनेक सभायें की हैं, ऐसे अनेक दल बाँधे हैं, ऐसे अनेक संकल्प किये हैं, जिन्हें आजकलके दिनोंमें यदि तुम सुनोगे तो सचमुच ही अपनी हँसी न रोक सकोगे—और हमारा विश्वास है कि हमारे साहित्यमें किसी किसी स्थलमें हम लोगोंका उन दिनोंका वह चित्र हास्यरसरंजित कलमसे चित्रित भी हुआ है।

किन्तु यदि हम सब बातें खोल करके कह दें तो तुम यह सोचकर विस्मित होओगे कि उन दिनोंमें हम सब बालक एक ही उम्रके बच्चे नहीं थे, हम लोगोंमें पके बालोंका भी अभाव नहीं था और उनकी आशाओं और उत्साहमें हमारी अपेक्षा जरा भी कमी नहीं थी। उस समय हमने और उन्होंने—नवीनों और प्रवीनोंने—भय, लज्जा और नैराश्यको किस तरह सर्वथा विसर्जित कर दिया था, यह हम आज भी नहीं भूल सके हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उस समयकी अपेक्षा आज हम अनेक विषयोंमें आगे बढ़ गये हैं, किन्तु आज आकाशमें आशाका प्रकाश मानों मलिन हो गया है और पथिकके साथ आनन्दका पाथेय (कलेवा) मानों बहुत थोड़ा रह गया है।

ऐसा क्यों हो गया, इसका उत्तरदायित्व इस समयके सिर नहीं है, इसकी कैफियत हम लोगोंको ही देनी होगी। जिस आशाकी पूँजीको लेकर यात्राका आरंभ किया था उसे हमने किस जगह उड़ाकर साफ कर दिया जो आज हम इस तरह खाली हाथ होकर बैठ रहे हैं।

अपरिमित आशा और उत्साह हमारी अल्प अवस्थाकी पहली पूँजी थी। जिस समय हमने कर्मके मार्गमें यात्राका आरंभ किया था उस समय विधात्र माताने हमारे अञ्चलमें इसीको बाँधकर और अशीर्वाद देकर विदा किया था। किन्तु जिस प्रकार धन खाद्य नहीं है, उसे तुड़ाना-भुनाना पड़ता है तब कहीं वह खाया जाता है, उसी तरह केवल आशा उत्साह ही हम लोगोंको सार्थक नहीं कर सकता, उसे विशेष काममें प्रयुक्त करना पड़ता है तब कहीं फल लाभ होता है। परंतु हम इस बातको भुलाकर इस आशा और उत्साहसे ही पेट भरनेकी चेष्टा करते थे।

बच्चे बिछौनेमें लेटे लेटे ही हाथ पैर पटकते रहते हैं,—उनके उस शरीरसंचालनका कोई लक्ष्य नहीं रहता। प्रथमावस्थामें शक्तिका जो यह अनिर्दिष्ट विक्षेप होता है, इसका एक अर्थ है—यह आगे निर्दिष्ट चेष्टामें परिणत हो जाता है। किन्तु वह अकारण हाथ पैर पटकना यदि उसको धीरे धीरे सकारण चेष्टाके लिए प्रस्तुत नहीं कर दे, तो फिर वह एक रोग ही गिना जायगा।

हम लोगोंके उद्यम भी उस छोटी उम्रमें पहले केवल अपने आनन्दमें ही विक्षिप्त भावसे—उद्दाम भावसे—चारों ओर भटकते

थे। उस समयके लिए वे न उद्भुत थे और न हास्यकर। किन्तु आगे जैसे जैसे दिन बीतने लगे और हम लोग पड़े पड़े केवल अंग-संचालन ही करने लगे, पर चलने नहीं लगे, शरीरके आपेक्ष-विक्षेपको ही अग्रसर होनेका उपाय समझने लगे, तब आनन्दका कारण नहीं रहा और एक समय जो आवश्यक था, अन्य समयके लिए वही दुश्चिन्ताका विषय बन गया।

हम लोगोंकी प्रथमावस्थामें यद्यपि भारतमाता भारतलक्ष्मी आदि शब्दोंने विशाल होकर हमारी कल्पनाको ढँक दिया था; किन्तु उस समय हमने यह कभी स्पष्ट करके नहीं सोचा था कि प्रत्यक्ष माता कहाँ पर है,—लक्ष्मी तो दूर रहे, उसके बाहन पेचक तकको भी कभी आँखोंसे नहीं देखा था। हमने बायरनके काव्य पढ़े थे, गैरीबाल्डीके जीवनचरित्रकी अलोचना की थी, एवं पेट्रियटिज्मके भावरससंभोगके नशेमें हम एकदम डूब गये थे।

मतवालेके लिए जिस तरह खाद्यकी अपेक्षा मद्य प्यारा होता है, हमारे लिए देशहितैषिताका नशा स्वयं देशकी अपेक्षा भी बड़ा बन गया था। हमारा जो देश हमारे लिए प्रत्यक्ष है उसकी भाषाको भुलाकरके, उसके इतिहासका अपमान करके और उसके सुखदुःखोंको अपनी जीवनयात्रासे बहुत दूर रखकर भी हम लोग देशहितैषी बन रहे थे। देशके साथ लेशमात्र सम्बन्ध न रखकर हम बिदेशीय राजदरबारको ही देशहितैषिताका एक मात्र कार्य-क्षेत्र समझ रहे थे। ऐसी अवस्थामें भी, इस प्रकार प्रतारणा करके भी, यदि हम यह आशा करें कि हमें फललाभ होगा, आनन्द लाभ होगा, और हम अपने उत्साहको बराबर बनाये रक्खेंगे, तो यह एक तरहसे विश्व-विधाताकी आँखोंमें धूल झोंकनेके प्रयत्नके समान होगा।

'आइडिया' या आदर्श चाहे जितना बड़ा हो, यदि हम उस

को उपलब्ध करना चाहते हैं, तो हमें पहले एक निर्दिष्ट सीमाबद्ध जगहमें हाथ डालना होगा। वह क्षुद्र हो, या दीन हो, उसको लाँघ जानेसे काम नहीं चलेगा। दूरको निकट करनेका एक मात्र उपाय, निकटसे उस दूर तक जाना ही है। भारतमाता हिमालयके एक दुर्गम शिखरकी पाषाण-शिला पर आसीन होकर केवल करुण-स्वरमें वीणा बजा रही है, इस बातका ध्यान करना मानों एक तरह-का नशा कर लेना है—इसे हम भारतमाताका देखना नहीं कह सकते। किन्तु यह देखना कि भारतमाता हमारे छोटेसे ग्रामकी सूखी हुई तलैयाके किनारे मलेरिया ज्वरसे जीर्ण हुए प्लीहा-रोगीको गोदमें बिठाकर उसके पथ्यके लिए अपने रिक्त रसोईघरकी ओर हताश दृष्टिसे देख रही है, सच्चा देखना है। जो भारतमाता व्यास-वशिष्ठ-विश्वामित्रके तपोवनोंके शमीवृक्षोंके नीचे क्यारियों-में जल सींचती फिर रही है, उसको तो हाथ जोड़कर दूरसे प्रणाम कर लेना ही काफी है, किन्तु हमारे घरके निकट जो फटे पुराने कपड़े पहननेवाली भारतमाता अपने बच्चेको अँगरेजी स्कूलमें पढ़ाती है और उसे क्लर्कगीरीकी विडम्बनामें डाल देनेके लिए स्वयं आधापेट खाकर दूसरोंकी रसोई बनाती फिरती है, उसको इस तरह केवल प्रणाम कर लेनेसे काम नहीं चल सकता।

आखिर हुआ कुछ भी नहीं। विजयीके समान बाहर निकले, भिखारीके समान पराये द्वार पर जाकर खड़े हो गये और अन्तमें संसारी बन गये,—बारण्डेमें सेविंगबेंकका खाता खोलकर बैठ गये। कारण, जो भारतमाता, जो भारतलक्ष्मी, केवल साहित्यके इन्द्रधनुबाष्पसे रची गई है और जो परानुकरणकी मृगतृष्णाके बीच प्रतिष्ठित है, उसकी अपेक्षा हमारे लिए हमारा निजका संसार बहुत अधिक प्रत्यक्ष है—हमारा पेटका गढ़हा बहुत अधिक निर्दिष्ट है। भारतमाताके आँसुओंकी धारा झिंझोटी-खम्बाज आदि

रागिनियोंमें चाहे जैसी मर्मभेदी हो, परन्तु डिपुटीगीरीमें जो हर महीने वेतनकी सुवर्णझंकार होती है, वह बहुत ही मधुर होती है, और उससे हृदयको सम्पूर्ण सान्त्वना मिलती है, यह अच्छी तरह परीक्षाकीहुई बात है। इस तरह जो मनुष्य एक दिन उदार भावसे फूलकर दिन आरंभ करता है, वही जब उसी भावपुञ्जको किसी प्रत्यक्ष वस्तुमें प्रयुक्त नहीं कर सकता तब पेटार्थू और स्वार्थपर हो कर व्यर्थ भावसे दिन बिताने लगता है। एक दिन जो व्यक्ति अपना तन-मन-धन सब कुछ दे डालनेके लिए प्रस्तुत हो जाता है, वही जब दान करनेका कोई लक्ष्य निर्णय नहीं कर सकता है, केवल संकल्प-कल्पनाके विलासभोगमें ही अपनेको परितृप्त रखनेमें लगा रहता है तब एक दिन ऐसा कठिन-हृदय बन जाता है कि यदि वह कभी भूखे प्यासे स्वदेशको भी दूरसे देख पावे तो रुपया भुनाकर पैसा देनेके भयसे घरके किवाड़ बन्द कर ले ? इसका कारण यह है कि कोरा भाव चाहे जितना बड़ा क्यों न हो, उसे क्षुद्र-से क्षुद्र भी प्रत्यक्ष वस्तुके सामने पराजित होना पड़ता है।

इसी लिए हमने कहा है कि जो हमने पुस्तकें पढ़कर पाया है, जिसको भाव-संभोग अथवा अहंकारतृप्तिका उपाय बनाकर हम रसालस जडत्वके बीच उपस्थित हो गये हैं और धीरे धीरे अवसा-दके बीच अवतरण कर रहे हैं, उसे; जब हम प्रत्यक्षताकी मूर्ति बनावेंगे और वास्तविकताका गुरुत्व दान करेंगे तभी हमारी कुशल है। केवल बड़ी चीजकी कल्पना करनेसे ही काम न चलेगा; बड़े भारी दानकी भीख माँगनेसे भी पूरा न पड़ेगा और छोटे मुँह बड़ी बात कहनेसे भी न चलेगा; हमें अपने द्वारके समीप कोई बहुत ही छोटा काम शुरू करना होगा। विलायतके महलोंमें जाकर रोने-पीटनेसे कुछ न होगा, हमें स्वदेशके खेतोंमें बैठकर कांटे उखाड़ने होंगे। इससे हम लोगोंकी शक्तिकी चर्चा होगी, और उस शक्तिकी

चर्चा मात्रमें स्वाधीनता है तथा स्वाधीनता मात्रमें आनन्द है।

आज तुम लोगोंकी जवानीमें अवारित रूपसे प्रवेश करनेका हमें अधिकार नहीं है, तुम लोगोंकी आशायें, आकांक्षायें, और आदर्श क्या हैं, उन्हें स्पष्ट रूपसे अनुभव करना हमारे लिए असम्भव है। किन्तु हमारी जवानीकी स्मृति अवश्य ही भस्मसे ढके हुए अग्निके कणके समान, इन पके हुए केशोंके नीचे, इस समय भी, छुपी हुई है। उस स्मृतिके बलसे हम यह निश्चयपूर्वक जानते हैं कि महती आकांक्षाकी रागिनी मनके जिन तारोंमें सहज ही बज उठती है, तुम लोगोंके अन्तरके उन्हीं सूक्ष्म, तीक्ष्ण, और प्रभात-सूर्यकी किरणोंसे बने हुए तन्तुओंके समान उज्ज्वल तारोंमें अभी अव्यवहारकी जंग नहीं लग गई है। उदार उद्देश्यके लिए विना विचारे आत्मविसर्जन करनेकी ओर मनुष्यके मनकी जो एक स्वाभाविक और सुगभीर प्रेरणा है तुम लोगोंके अन्तःकरणमें वह अब भी बनी हुई है—वह छोटी छोटी बाधाओंके द्वारा बार बार प्रतिहत होकर निस्तेज नहीं होगई है। हम जानते हैं कि जिस समय स्वदेश अपमानित होता है, उस समय तुम्हारा हृदय आहत अग्निके समान उद्दीप्त हो उठता है। निजके व्यवसायकी संकीर्णता और स्वार्थसाधनकी चेष्टा उस समय तुम लोगोंके समस्त मनको ग्रास नहीं किये रहती। इस बातकी चिन्ता—कि देशका अभाव और अगौरव किस तरह दूर हो सकता है—अवश्य ही बीच बीचमें तुम्हारी रातके निद्राहीन प्रहरों पर और दिनके एकान्त अवकाश पर आक्रमण करती है। हम जानते हैं कि जो सब इतिहासप्रसिद्ध महापुरुष देशहितके लिए और लोकहितके लिए अपनेको उत्सर्ग करके मृत्युको परास्त, स्वार्थको लज्जित और दुःख-क्लेशको अमर महिमासे समुज्ज्वल कर गये हैं, उनके दृष्टान्त जब आह्वान करते हैं, तब उस आह्वानको आज भी तुम लोग

किसी विज्ञ सम्पत्तिशालीके समान मजाकमें नहीं उड़ा देना चाहते हो। आज हम तुम सबके उस अनाघ्रात (बिना सूँघे हुए) पुष्प और अखण्ड पुण्यके समान नवीन हृदयकी समस्त आशा आकांक्षाओंको तुम्हारे देशके सारस्वत वर्गके (विद्वानोंके) नामसे आह्वान करते हैं—भोगके मार्गसे नहीं, भिक्षाके मार्गसे नहीं, मर्मके मार्गसे। इस कर्मशालाका प्रवेशद्वार बहुत ही छोटा है, राजमहलके सिंहद्वारके समान आकाशको छूनेवाला नहीं है; किन्तु गौरवकी बात यह है कि यहाँ अपनी शक्तिकी पूँजी लेकर प्रवेश करना पड़ता है, भिक्षाका पात्र लेकर नहीं। इसी प्रकार यहाँ प्रवेश करनेके लिए द्वारपालकी अनुमतिलेनेका अपमान स्वीकार नहीं करना पड़ता, ईश्वरके आदेशको शिरोधार्य करके आना होता है। यह सच है कि यहाँ प्रवेश करते समय मस्तक झुकाना पड़ता है; परन्तु वह केवल अपने उच्च आदर्शके सामने, देशके सामने और जो नत व्यक्तिको उन्नत कर देते हैं उन मंगल-विधाताके सामने। तुम लोगोंका आह्वान करके अब तक कोई भी सर्वथा निराश नहीं हुआ है। देश जब विलायती पिनाक बजाकर भिक्षा माँगनेके लिए बाहर हुआ था, उस समय भी तुमने पीछे पैर नहीं दिये थे। एक प्राचीन श्लोकमें जिसे स्मशानके समान बतलाया है उस राजद्वारकी भी यात्रा करके जब तुमने अपनेको सार्थक समझा है, तब क्या माताके पवित्र अन्तःपुरकी यात्राको तुम व्यर्थ समझोगे जिसके लिए आज साहित्यपरिषद्का तुम्हें आह्वान है ? देशके काव्योंमें, गानोंमें, पदोंमें, प्राचीन मन्दिरोंके खण्डहरोंमें, दीमकके खाये हुए ग्रन्थोंके जीर्णपत्रोंमें, गाँवोंके तीज-त्योहारोंमें, व्रत-कथाओंमें और गाँवोंके किसानोंकी झोपड़ियोंमें, जहाँ जहाँ परिषत् स्वदेशकी खोज लगानेके लिए उद्यत हुई है, वहाँ न कभी विदेशियोंकी विस्मित दृष्टि पड़ती है और न वहाँसे ख्याति देवी संवादपत्रों पर सवार

होकर समुद्रके पार जयघोषणा करनेको जाती है। इस तरह वहाँ तुम्हारे लिए कोई प्रलोभन नहीं है। इतने पर भी तुममेंसे जो लोग माताकी निःशब्द आशीषको राजमहिषीकी जूठनकी अपेक्षा अधिक समझ सकें, वे माताके निभृत अन्तःपुरमें विचरण करनेवाले इन सब मातृसेवकोंके समीप आकर खड़े हो जायँ और सदाके लिए विना वेतन और विना पुरस्कारके इस ख्यातिविहीन कर्ममें लगकर अपने स्वदेशप्रेमको सार्थक करें। यदि ऐसा हुआ तो हम कमसे कम इतना अवश्य समझेंगे कि यदि शक्ति हो, तो उसको चरितार्थ करनेके लिए कार्य भी मिल सकते हैं और यदि प्रीति हो, तो सेवाके कार्योंकी भी कमी नहीं रहती। इसके लिए गवर्नमेण्टके किसी कानूनको पास करनेकी राह नहीं देखनी पड़ती और किसी अधिकारकी भीखकी आशामें बन्द दरवाजेके आगे अनन्यकर्मा होकर समय खोनेकी आवश्यकता नहीं होती।

मुझे भय है कि आजके व्याख्यानके विषयकी मात्राको मैं ठीक नहीं रख सका हूँ। बात केवल इतनी कहनी थी कि देशी भाषाके व्याकरणकी चर्चा करो, कोश संकलन करो, और गाँव-गाँवसे देशके आभ्यन्तरिक विवरणोंको संग्रह करो। इस मामूली प्रस्तावकी अवतारणाके लिए ऐसे ऊँचे ऊँचे भावोंकी दोहाई देकर लम्बी भूमिका बाँधना सचमुच ही, कुछ असंगत सा हो गया है। हो गया है, इस बातको मैं स्वीकार करता हूँ, किन्तु समयके प्रभावसे इस प्रकारकी असंगतताका होना हमारे देशके लिए आवश्यक हो गया है, और यही हमारे दुर्भाग्यका चिन्ह है। वर्तमान कालमें यदि हमारे देशमें कहा जाय कि देशके लिए व्याख्यान दो, सभायें करो, वाद-विवाद करो, तो इसे सब कोई सहज ही समझ लेंगे; परन्तु यदि यह कहा जाय कि पहले देशको जान लो और इसके बाद अपने हाथसे जितनी बन सके उतनी देशसेवा करो, तो इस-

का अभिप्राय समझनेमें लोगोंको विशेष कष्ट होगा । ऐसी दशामें यदि मैंने 'देशके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है' इस विषयमें दो चार मामूली बातें कहते हुए कुछ असामान्य वाक्यव्यय कर डाला हो, तो इसके लिए आप मुझे क्षमा कर दीजिए। यदि सबेरे सघन कुहरा छा रहा हो, तो उस समय अधीर होनेसे कोई लाभ नहीं होगा और हताश होनेका भी कोई कारण नहीं देख पड़ता। क्योंकि यह निश्चय है कि दिवानाथ सूर्य उस कुहरेको मिटा देंगे और तब सब साफ हो जायगा। अतः आज हम अधीर होकर अधिक आकांक्षा नहीं करेंगे, किन्तु अविचलित आशा और आनन्दके साथ यही बात कहेंगे कि सघन कुहरेके बीचबीचमें यह जो विच्छेद दिखाई देता है, सो जान पड़ता है कि सूर्यकिरणोंकी छटाने तीक्ष्णधार तलवारके समान हमारे दृष्टिके आवरणको कई जगह चीर दिया है। अब डर नहीं हैं। गृहद्वारके आगे ही हमारा गन्तव्य पथ बहुत जल्दी स्पष्ट रूपसे प्रकाशित हो जायगा। उस समय कौन दिशा-विदिशा किस ओरको है, इस विषयमें दस आदमियोंको एकट्ठा करके और दस तरहकी बातोंको उठाकर वितण्डा न करना होगा। उस समय सब अपनी अपनी शक्तिके अनुसार अपना अपना मार्ग निश्चित करके तर्कसभाओं और पुस्तकोंके तंग कमरोंसे बाहर हो जायँगे। उस समय निकटका काम दूर न जान पड़ेगा और अत्यावश्यक कामको क्षुद्र समझकर हम अवज्ञा न करेंगे। हमारा दृढ़ विश्वास है कि ये शुभ लक्षण अवश्य प्रकट होंगे, और इसी लिए, परिषदके इस समयके आह्वानने यदि तुम लोगोंके हृदयमें स्थान न पाया हो और देशकी घरू बातें जाननेको यदि तुमने विशेष महत्त्व का काम न समझा हो, तो भी हम क्षुब्ध न होंगे और अपनी मातृभूमिको, जो इतने दिनोंसे अपनी सन्तानके घर लौटनेके मार्गको अनिमेष दृष्टिसे देख रही है—आश्वासन देकर कहेंगे कि—"जननि,

अब अधिक देर नहीं हैं, स्कूलसे छुट्टी हो गई है—सभा उठ गई है। वह देखो, तुम्हारी झोंपड़ीके आँगनके सामने तुम्हारे भूखे-प्यासे बच्चोंके पैरोंकी आहट सुन पड़ रही हैं। अब तुम अपना शंख बजाओ, दीपक जलाओ और अपनी बिछी हुई चटाई पर हम सब छोटे बड़े भाइयोंके मिलनको अपने अश्रुगद्गद आशीर्वचनोंके द्वारा सार्थक करनेके लिए प्रस्तुत हो रहो।"